अस्तित्ववाद

अस्तित्ववाद

महावीर दाधीच
एम ए पी एच डी

शब्दलेखा प्रकाशन, बीकानेर

○ प्रकाशन
शब्दलेखा प्रकाशन
५ डागा बिल्डिंग
बीकानेर (राजस्थान)

○ मुद्रण
माहेश्वरी प्रिंटिंग प्रेस
जोशी बिल्डिंग
बीकानेर

○ मूल्य ग्यारह रुपये

ASTITVAVAD MAHAVEER DADHEECH R

श्री कार्तिनाथ कुतकोटि उर्फ आचार्य जी
श्री सुरेन्द्रनाथ मिराजगी उर्फ प्रोफेसर
श्री हर्षद देसाई उर्फ देसाई
डा० ओमानन्द सारस्वत उर्फ चाचा
डा० पवनकुमार मिश्र उर्फ मोहब्बतसिह
को

उन रातों की याद में
जो चाय सिगरेट और तर्काश्रित आविष्ट आवाजों के माहौल से परिवेश
की जड़ता को सुबह तक परेशान किये रहती थी
और इस उम्मीद में
कि ये लोग इस पुस्तक को खरीद कर पढ़ेंगे।

महावीर दाधीच

अनुक्रम

प्राक्कथन

अस्तित्ववाद का विवेचनात्मक परिचय देना इस पुस्तक का लक्ष्य है। अपनी सीमाओं के अन्तर्गत मैंने इस लक्ष्य को उपलब्ध करने का प्रयत्न किया है।

पहली सीमा यह रही है कि फ्रेंच जर्मन हिब्रू डेनिश आदि भाषाओं के अज्ञान के कारण अंग्रेजी अनुवादों के आधार पर ही यह लिखी गई है। इसलिये सीमाजन्य त्रुटियों के लिये क्षमाप्रार्थी हूँ।

दूसरी सीमा विषय-सम्बद्ध हिन्दी पारिभाषिक पदों की रही है। अधिकांशतः मैंने विवेच्य लेखक के मूल पदों के अभिप्राय की व्यंजना करने वाले स्वनिर्मित हिन्दी पदों का प्रयोग किया है। इसलिये यास्पर्स हेडेगर आदि के विवेचन में मूल एक ही पद के भिन्नार्थक अभिप्रायों को ध्यान में रखते हुए मैंने उस एक पद के लिये अलग अलग हिन्दी पदों का प्रयोग किया है। मेरा उद्देश्य विशिष्ट अभिप्राय को स्पष्ट करना रहा है पारिभाषिक पदावली का निर्माण नहीं।

नागरी सीमा भी अनानजय है और वह है नाम नगर आदि के उच्चारण की। इस ग्रन्थ में मुझे भारतीय नामों और नगरों के अंग्रेजी उच्चारण से साहस मिला है। उत्कमण्डल उटकमण्ड और मुम्बई बोम्बे हो गया है। इस नव पद्य में भी यदि उच्चारणगत नवीनता' आ गई हो तो क्षम्य होनी चाहिए।

एकान्त स्व और पर की सीमाओं का उल्लेख मैं नहीं करूंगा।

एक स्पष्टीकरण भी। हेडेगर के प्रकरण में उसके ग्रन्थों का समग्रत लिया गया है। भू (Being) की धारणा उसके बाद के ग्रन्थ Introduction to Metaphysic के आधार पर विवेचित हुई है जब कि अन्य बातें प्रमुखत Being and Time के आधार पर। कुछ विचारक हेडेगर के पूर्व और पश्चात में विरोध देखते हैं। पर मुझे विरोध नहीं लगा है। वस्तुत भू की धारणा जो Being and Time में अस्पष्ट और केवल संकेतित है, इस दूसरे ग्रन्थ में अधिक स्पष्ट तथा मुखर हुई है। फलत यह ग्रन्थ विरोधी न होकर पूरक है।

श्रद्धेय डॉ० छगन मोहता का अत्यन्त आभारी हूं। उनके स्नेह, ज्ञान और विचार का मैंने खुलकर शोषण किया है। सुहृद डा० पूनम दईया की अनेकविध सहायता भी याद आ गई है।

बीकानेर
२५ ३ ६८

महावीर दाधीच

7

विपयसम्वद्ध ग्रथ-सूची (अग्रेजी मे अनूदित)

I Kierkegaard

1 The Concluding Unscientific Post Script —Kierkegaard
2 The Present Age
3 The Sickness Unto Death
4 Pepetition
5 The Concept of Dread
6 Either/Or
7 Fear and Trembling
8 Kierl egaard —W Lowrie

II Jaspers

1 Man In the Modern Age —Ja pers
2 The European Spirit
3 Perennial Scope of Philosophy
4 The Origin and Coal of History
5 Way to Wisdon
6 Pea on and Exi tenz
7 Truth and Symbol
8 Tragedy is not Enough
9 The Philosophy of Karl Jaspers —P A Schilpp

III Heidegger

1 An Introduction to Metaphysics —Heidegger
2 Being and Time
3 What is Philosophy
4 The question of Being
5 The me ning of Heidegger a critical study of Existentialist Phenomenology —Thomas Langan
6 Kierkegaard and Heidegger The ontology of existence —Michael Wyschogrod
7 Heidegger —M Grene

IV Sartre

1 Being and Nothingness —Sartre
2 The Psychology of Imagination
3 Existentialism and Humanism
4 Literary and Philosophical essays
5 What is literature
6 The problem of Method
7 Baudelaire
8 Saint Genet
9 Portrait of the Anti Semite
10 Nausea (Novel)
11 The Age of Reason (Novel)
12 The Reprieve (Novel)
13 The Iron in the soul (Novel)
14 No exit The flies Nakrassov etc
(The plays and stories)
15 The Tragic Finale —Wilfred Desan
16 A Critique of J P Sartre s ontology —Maurice Natanson
17 Sartre —Iris Murdoch
18 The Literature of Possibility —H E Barnes
19 The Ethics of Ambiguity —Simone de Beauvoir
20 Memoirs of a dutiful daughter

V Buber

1 I and Thou —Buber
2 Eclipse of God
3 Between Man and Man
4 Martin Buber Jewish Existentialist—Malcolm Diamond

VI General

1 Existentialist Thought —Ronald Grimsley
2 Irrational Man —William Barrett
3 The Destiny of Man —N Berdyaev
4 Existentialism —Foulquie
5 Beyond Existentialism —J V Rintelen

6 Makers of Mod rn Thought —G O Griffith
7 The Philosophy of Existence —G Marcel
8 I xi tentialism and Modern Predicament
—F H Heinemann
9 Existentialism from Within —E L Allen
10 Existentialism and Religious belief —D E Roberts
11 Six Existentialist Thinkers —Blackham
12 The Existentialists —James collins
13 The Philosophy of Decadentism A study in
Existentialism —N Bobbio
14 Dreadful Freedom A critique of Existantiali m
—M Grene
15 Encounter with Nothingness —H Kuhn
16 Existentialist philosophies —B Mounier
17 Existentialism —G de Ruggiero
18 A short History of Exi tentiali m —J Wahl
19 The chellenge of Existentialism —John Wild
20 Courage to Be —Paul Tillich
21 Portable Neitzsche —W Kaufman
22 Existentiali m from Dostoevsky to Sartre—W Kaufman
23 Existertialism For and Against —P Roubiczek
24 Existentialism and Indian Philosophy —Gurudutta
25 Age of complexity —Herbert Kohl

इन्द्रिय-विषय-लेखन पद्धति

(Phenomenological Method)

किसी भी वस्तु या विषय के अध्ययन की प्रक्रिया, रीति अथवा विधान पद्धति है। पद्धति अध्येता के लक्ष्य और अध्येय-वस्तु के स्वरूप से अनुशासित रहती है। यह लक्ष्य वस्तु-सापेक्ष अर्थात् लक्ष्य और वस्तु के अनुरूप होता है। यदि वस्तुपरक सत्य की प्राप्ति लक्ष्य है तो बौद्धिक पद्धति (rational method) का सहारा लेना अनिवार्य है। ऐसी परिस्थिति में मस्तिष्क (अध्येता) और वस्तु (अध्येय) में द्वैत स्थापित होता है और वस्तु मस्तिष्क से बहिष्कृत हो जाती है। वस्तु में ऐन्द्रिय मानसिक और व्यक्तिगत सत्ता और सापेक्षता के स्थान पर बौद्धिक निस्संगता और निरपेक्षता उभरती है। इस पद्धति का एक पूर्व धारणा (apriority or hypothesis) से प्रारम्भ होता है। फिर आगमन निगमन वर्णन प्रयोग स्पष्टीकरण आदि एकान्त प्रक्रिया उपकरणों और साधनों द्वारा वस्तु की एक परिभाषा प्राप्त की जाती है अथवा निष्कर्ष निकाला जाता है जो सामान्य सार्वभौम सार्वकालिक और सार्वदेशिक सार (essence) के रूप में होता है। विचार और अधिकांश बुद्धि सापेक्ष प्रत्ययवादी (idealistic) दर्शनों में इसी पद्धति का प्रयोग किया जाता रहा है। आत्मपरक सत्य की प्राप्ति के लिए अन्तरानुभूतिनिष्ठ (intuitional) पद्धति काम में लाई जाती रही है। इस पद्धति में किसी विशेष प्रक्रिया का अनुसरण नहीं किया जाता और यह पूर्णतः व्यक्ति सापेक्ष होती है। इसमें कोई पूर्वधारणा नहीं होती। अन्तरानुभूति ही धारणा और निष्कर्ष का रूप धारण कर लेती है। ये निष्कर्ष सामान्य (general) और सार्वभौम (universal) होते हुए भी वैयक्तिक

6 Makers of Mod rn Thou_ht —C O Griffith
7 The Philosophy of Existence —G Marcel
8 Existentialism and Modern Predicament —F H H inemann
9 Existentialism from Within —E I Allen
lo Existentialism and Religious belief —D E Roberts
11 Six Existentialist Thinkers —Blackham
12 The Existentialists —James collins
13 The Philosophy of Decadentism A study in Existentialism —N Bobbio
14 Dreadful Freedom A critique of Existantiali m —M Grene
15 Encounter with Nothingness —H Kuhn
16 Existentialist philosophies —B Mounier
17 Existentialism —G de Ruggiero
18 A short History of Exi tentialism —J Wahl
19 The chellenge of Existentialism —John Wild
2o Courage to Be —Paul Tillich
21 Portable Neitzsche —W Kaufman
22 Existentiali m from Dostoevsky to Sartre—W Kaufman
23 Existertialism For and Against —P Roubiczek
24 Existentialism and Indian Philosophy —Gurudutta
25 Age of complexity —Herbert Kohl

इन्द्रिय-विषय-लेखन पद्धति

(Phenomenological Method)

किसी भी वस्तु या विषय के अध्ययन की प्रक्रिया रीति अथवा विधान पद्धति है। पद्धति अध्येता के तथ्य और अध्येय-वस्तु के रूप स्वरूप से अनुशासित रहता है। यह तथ्य-वस्तु-सापेक्ष अर्थात् तथ्य और वस्तु के अनुरूप होता है। यदि वस्तुपरक ज्ञान की प्राप्ति करना है तो बौद्धिक पद्धति (rational method) का सहारा लेना अनिवार्य है। ऐसी परिस्थिति में सन्निकर्ष (अध्येता) और वस्तु (अध्येय) में द्वैत स्थापित होता है और वस्तु सन्निकर्ष से अतिरिक्त हो जाता है। वस्तु से ऐन्द्रिय मानसिक और व्यक्तिगत ममता और सापेक्षता के स्थान पर बौद्धिक निस्संगता और निरपेक्षता उपजती है। इस पद्धति का एक पूर्व धारणा (apriority or hypothesis) से प्रारम्भ होता है। फिर आगमन निगमन वर्णन अथवा द्वन्द्वात्मकता आदि एकाधिक प्रक्रिया उपकल्पना और मानना द्वारा वस्तु की एक परिभाषा प्राप्त की जाती है अथवा निष्कर्ष निकाला जाता है जो सामान्य सार्वभौम सार्वकालिक और सार्वदेशिक सार (essence) के रूप में होता है। विज्ञान और अधिकांश बुद्धि सापेक्ष प्रत्ययवादी (idealistic) दर्शनों में इसी पद्धति का प्रयोग किया जाता रहा है। आत्मतत्त्व सत्य की प्राप्ति के लिए अन्तरानुभूतिपरक (intuitional) पद्धति काम में ली जाती रही है। इस पद्धति में किसी विशेष प्रक्रिया का अनुसरण नहीं किया जाता और यह पूर्ण रूप व्यक्ति-सापेक्ष होता है। इसमें कोई पूर्वधारणा नहीं होता। अन्तरानुभूति ही धारणा और निष्कर्ष का रूप धारण कर लेता है। ये निष्कर्ष सामान्य (general) और सार्वभौम (universal) होते हुए भी वैयक्तिक

ग्रंथ में सामान्य सार्वभौम और सार्वजनीन नहीं होते क्योंकि इनके सत्य का वस्तुपरक परीक्षण अशक्य है। ये प्रवचन के लिए बुद्धि के स्थान पर विश्वास और श्रद्धा पर आश्रित रहते हैं। रहस्यवाद धर्म आदि की बातों का निरूपण इस पद्धति में होता रहा है।

चूंकि अस्तित्ववादी सामान्य सार्वभौम सार्वकालिक और सार्वदेशिक सार अथवा सत्य में विश्वास नहीं करते और न वे पूर्णतः सत्-ज्ञानुभूति के विवेकातीत निष्कर्षों में ही आस्था रखते हैं। फलतः दोनों ही पद्धतियाँ उन्हें अपूर्ण और अनुपयोगी लगती हैं। उनका ध्येय निर्जीव निर्लिप्त और अमूर्त सार को प्राप्त करना नहीं है तथा उनका विषय—अस्तित्व—भी स्थिर निश्चित और सीमित नहीं है। वे निरन्तर प्रवहमान अस्तित्व की सम्यक् पहचान करना चाहते हैं। परिणामस्वरूप वे इन्द्रिय विषय लेखन पद्धति का आश्रय लेते हैं।

इन्द्रिय-विषय (Phenomenon)

Phenomenon शब्द ग्रीक धातु Phainesthai से बना है जिसका मूल अर्थ है प्रकट होना। अर्थात् वे विषय जो चेतना में प्रकट होते हैं। दूसरे शब्दों में वे विषय जिनका साक्षात् बोध मन इन्द्रियों द्वारा प्राप्त करता है। इस तरह विषय या वस्तु के दो रूप हैं। एक—इन्द्रिय बोधमय रूप अर्थात् जिस रूप में वे प्रकट होते हैं बाधित ज्ञान है या प्रतीत होते हैं तथा दूसरा—विषयों का प्रकृत रूप जो इन्द्रिय निरपेक्ष फलतः चेतना से असम्पृक्त और शुद्ध होता है और जो काण्ट के अनुसार बौद्धिक सत्-ज्ञानुभूति का ही विषय है। हेडेगर (Heidegger) इन्द्रिय विषय को बाह्य विषयों तक ही सीमित नहीं रखता बल्कि इच्छाओं भावनाओं सिद्धान्तों आदि को भी वह इसके अन्तर्गत मानता है।

संक्षेप में चेतना-सम्पृक्त अनुभूति रूप विषय ही इन्द्रिय विषय है।

इन्द्रिय-विषय लेखन पद्धति

इन्द्रिय विषय अथवा इन्द्रिय विषयवाद की धारणा का उद्गम काण्ट हेगल आदि पूर्ववर्ती दार्शनिकों में प्राप्त होता है। किन्तु जिस रूप में यह धारणा अस्तित्ववादियों में दिखाई देती है उस इन्द्रियविषयवाद का पुरस्कर्ता हुसर्ल (Husserl) था। हुसर्ल अस्तित्ववादी नहीं था। उसका

अपने अन्तिम रूप में इन्द्रियातीत प्रत्ययवादी है तो भी इस दर्शन की प्रारम्भिक धारणाओं ने जर्मन और फ्रांसीसी अस्तित्ववादियों को अत्यधिक प्रभावित किया है। हुस्सर्ल की मान्यता थी कि पूर्ण वस्तुपरकता (objectivity) प्राप्त करने के लिए दार्शनिक के लिए यह अनिवार्य है कि वह अपना पूरा ध्यान उस विषय के वर्णन या कथन पर केन्द्रित करे जो चेतना के प्रति प्रकट होता है। दूसरे शब्दों में वह इन्द्रिय विषय का वर्णन करे। क्योंकि ज्ञान प्राप्त करना और कार्य करना अथवा उत्पन्न करना एक नहीं है। बाधित होना केवल देखना है। इन्द्रिय विषय स्वयमेव अपने आपको चेतना के परिवृत्त में अभिव्यक्त (manifest) करता है। यही इसका सच्चा और वस्तुपरक रूप है। इसलिए विषयों के प्रति पुनर्गमन की बात हुस्सर्ल करता है। लेकिन इस बात पर विशेष ध्यान दिया जाना चाहिए कि ये विषय इन्द्रिय विषय हैं। साधारण विषय नहीं हैं जो वैज्ञानिक अथवा प्रत्ययवादी दर्शनों के ध्येय हैं। निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि इन्द्रिय विषय चेतना गम्य विषय हैं।

इन्द्रिय विषयवाद को पूरी तरह समझने के लिए हुस्सर्ल की चेतना की धारणा का विवेचन आवश्यक है। ब्रेन्टानो के प्रभाव में हुस्सर्ल चेतना को निर्दिष्ट (intentional) मानता है। चेतना सदैव स्वबाह्य विषय (object) की ओर निर्दिष्ट अथवा उन्मुख (pointing to) रहता है। अर्थात् यह   की चेतना है। दूसरे शब्दों में चेतना सदैव किसी विषय की चेतना है। चेतना इस रूप में शुद्ध है अर्थात् शून्य है। पूर्वाग्रह धारणा या प्रत्यय आदि से यह पूर्णतः मुक्त है। लेकिन प्रत्यय आदि विवर्की चेतना (reflective consciousness) की सृष्टि हैं अर्थात् ये चेतना से पूर्ववर्ती नहीं अनुवर्ती हैं। फलतः शुद्ध चेतना में इनकी स्थिति नहीं है। चेतना का यह दूसरा विवर्की रूप प्रत्ययवादी दर्शन विज्ञान गणित तर्कशास्त्र आदि रूप अध्ययन शाखाओं का आधार है। फलतः हुस्सर्ल के अनुसार इन शाखाओं के परिणाम भी अपूर्ण या गलत हैं क्योंकि इनमें विषय को विकृत (distorted) और असत्य रूप में प्रस्तुत किया जाता है। इसलिए दार्शनिक के लिए यह आवश्यक है कि वह इन्द्रिय विषय का वर्णन विश्लेषण करे अर्थात् विषय के चेतनागत यथानुभव (immediate experience) का वर्णन विश्लेषण ही सम्भवतः विषय की सत्ता शुद्ध रूप में प्रकट कर सकता है

इससे यह स्पष्ट होता है कि जो प्रकट होता है अथवा चेतना के क्षेत्र में जो विषय आता है उसका ठीक वर्णन कर देना इन्द्रिय विषय वर्णन पद्धति है। इसमें किसी प्रकार की पूर्वता (apriority) और पूर्वाग्रह (prejudices) नहीं आते। फलतः इसमें सैद्धान्तिक अथवा व्यावहारिक पूर्व योजना (postulates) या साध्य के लिए कोई अवकाश नहीं है। ऋषि दृष्टि (revelation) और परम्परा का मान भी अस्वीकार्य है। इस रूप में यह पद्धति आगमन और निगमन दोनों बौद्धिक पद्धतियों की अवहेलना करती है यद्यपि अंशतः बौद्धिक पद्धति के एक साधन वर्णन को यह स्वीकारती है तथापि यह वर्णन के द्वारा कुछ सिद्ध नहीं करती अथवा कोई निश्चित सारभूत निष्कर्ष नहीं निकालती।

हेडेगर सार्त्र यास्पर्स मर्लोपोंटि आदि अस्तित्ववादी विचारक पद्धति के उपयुक्त स्वरूप से शायद सहमत होंगे।

हुसर्ल का दर्शन अध्ययनात्मक और अर्थपरक (of meanings) है अस्तित्वपरक नहीं। दूसरा वह न हुसर्ल ने इस पद्धति को ही पूरे दर्शन या वाद का रूप दे दिया है। वह अपने बहु प्रचलित अपक्षेपीकरणों (reductions) के द्वारा इन्द्रिय विषय की बौद्धिक धारणाओं से ही मुक्त नहीं करता बल्कि मानसिक प्रतिक्रियाओं (psychic responses) से भी स्वतन्त्र कर अतिक्रमणशील चेतना (transcendental consciousness) तक पहुँचता है। यही अतिक्रमी चेतना उसके अनुसार सच्चे ज्ञान या सत्य का आधार है। सार्त्र हेडेगर आदि अस्तित्ववादी चिन्तक इन अपक्षेपों को अस्वीकार करते हैं क्योंकि इन्द्रिय विषय में आत्म ज्ञान की आवश्यकता हो वे महसूस नहीं करते। वे हुसर्ल की निरपेक्ष चेतना का खण्डन करते हैं। चेतना हमेशा किसी की चेतना होती है। अतः कथित अस्तित्ववादी इसे केवल साधन या पद्धति के रूप में लेते हैं जो मानव अस्तित्व के सहज रूप स्वरूप के उद्घाटन में सहायक है। उनका उद्देश्य अस्तित्व की धारणा बनाना नहीं। अस्तित्व के भीतर अनुभव की प्रमाणपूर्णता में पहुँचना है। वे किसी अमूर्त सत्य का प्रतिपादन नहीं करते बल्कि अनुभव के मूल और तात्कालिक पक्ष का वर्णन करना चाहते हैं जो उनकी दृष्टि में सम्भव होगा। यह सत्य मेरा सत्य है जिसे मैं स्वयं जीवन में ही साक्षात्कार करता हूँ। इसलिए कुछ अस्तित्ववादी (मार्सेल कामू आदि) उपन्यास नाटक कविता आदि साहित्य

माध्यमों से अपनी बात प्रकट करते हैं। उनका उद्देश्य—सीमोन द बोवाय के शब्दों में—अस्तित्व की क्रियमाण अवस्था को चित्रित करना है।

इस पद्धति का प्रचलन यद्यपि कीर्कगार्द के पश्चात् हुआ है तो भी कीर्कगार्द का लेखन भी इसी पद्धति से मिलता जुलता है। यास्पर्स और मार्सल इस पद्धति का उपयोग करते हैं। बहुतांश में हेडगर और सार्त्र का विवेचन भी इस पद्धति के माध्यम से हुआ है।



२

अस्तित्व-वाद : कुछ स्थूल रेखायें

अस्तित्व वाद की परिभाषा देना बहुत मुश्किल काम है क्योंकि अस्तित्व वाद स्वयं किसी परिभाषा में विश्वास नहीं करता। परिभाषा देने का अर्थ यह है कि अस्तित्व का ऐसा रूप स्थिर कर देना जो परिभाषा में सबंधित नियमों द्वारा पूरी तरह से अनुशासित रहे जिससे भूत, वर्तमान और भविष्य उस परिभाषा में सीमित हो जाय। अस्तित्व वाद के अनुसार मनुष्य के अस्तित्व की परिभाषा इस रूप में नहीं दी जा सकती क्योंकि मनुष्य के भविष्य के बारे में किन्हीं निश्चित नियमों का निर्माण नहीं किया जा सकता। वह मूल रूप में स्वतंत्र है इसलिए सभी परिभाषाओं का अतिक्रमण करता है। उसके अनुसार अस्तित्व या (to exist) का मतलब है एक ऐसा जीवन, एक ऐसी गति जो सब प्रकार के नियमों को तोड़ कर प्रवहमान रहता है। इसका अर्थ हुआ कि अस्तित्व वाद किसी भी प्रकार के एसेन्स या सार में विश्वास नहीं रखता। वस्तु का सार अमूर्त होता है। वस्तु गुणों और प्रवृत्तियों से हीन होकर जब एक विचार का रूप धारण कर लेता है तो उसे हम सार की संज्ञा देते हैं। सार्त्र ने मेज का एक उदाहरण दिया है। मेज को उत्पन्न करने वाले के मस्तिष्क में मेज का एक रूप रहा होगा अर्थात् एक विचार। मेज बाद में बनी है अर्थात् उसकी निर्मिति का एक आधार है। इस मेज का सार निकाला जा सकता है और वह सार है मेज सम्बन्धी विचार। इस मेज के भूत, वर्तमान और भविष्य को पूरी तरह से जान सकते हैं। इसके बारे में भविष्य-वाणी की जा सकती है कि यह [illegible] यह [illegible] हुआ है और [illegible] है आदि आदि। इस सार में मेज का जो रूप दृष्टिगत होता है [illegible]

इस काम में देते हैं वह रूप नहीं होता। वह रूप नष्ट हो जाता है और एक ऐसा विचार उत्पन्न होता है जो पूरी तरह से अमूर्त और निष्प्रयोजन है जिसमें किसी भी प्रकार की आत्मपरकता नहीं होती। सार्त्र के अनुसार मनुष्य मेज नहीं है इसलिए उसकी इस रूप में परिभाषा नहीं दी जा सकती। इसका अर्थ यह है कि अस्तित्ववाद में कर्म की क्रिया और विचार दोनों एक दूसरे के पूरक तो अवश्य हैं। पर विचार के पूर्व क्रिया की स्थिति है जिसको हम इस तरह कह सकते हैं कि सार से पहले अस्तित्व आता है। (existence precedes essence—Sartro in existentialism and humanism) इसका अर्थ यह है कि मनुष्य सार नहीं है इसलिए इसकी परिभाषा बनाना गलत है।

मनुष्य सार्वजनिक होने में पड़ता है या सत्ता प्राप्त करता है। होने का अर्थ है जो मनुष्य है और यह है किसी निश्चित स्वरूप में नहीं आता। मनुष्य इस होने की प्रक्रिया में यह बात पूरी तरह से अनुभव करता है कि चेतना के रूप में वह कुछ नहीं है अर्थात् चेतना में किसी भी प्रकार के पूर्वाग्रह विचार या पूर्वधारणाएं नहीं होतीं। वह किसी भी प्रकार के बंधन से बद्ध नहीं है। दूसरी तरफ वह यह भी महसूस करता है कि वह वस्तु (आकार) नहीं है। इसलिए वस्तु में और मनुष्य की चेतना में एक प्रकार का तनाव सदैव रहता है। चेतना वस्तु रूप होना चाहती है अर्थात् वह ऐसा रूप धारण करना चाहती है जिसकी निश्चित परिभाषा दी जा सकती है सार बनाया जा सकता है। दूसरे शब्दों में मनुष्य चेतन होते हुए वस्तु की स्थिरता प्राप्त करना चाहता है। प्राचीन काल के प्रत्ययवादी दार्शनिक धार्मिक विचारक और आधुनिक वैज्ञानिक निष्कर्ष भी मनुष्य को सार के रूप में परिभाषित करते हैं। मनुष्य की एक निश्चित धारणा बनाते हैं और इस प्रकार से वे मनुष्य की स्वतंत्रता उसकी संभावना और उसकी क्रिया की ताकत को नष्ट करते हैं। अस्तित्ववादी व्यक्ति इन सब में विश्वास नहीं करता क्योंकि उसका विश्वास है कि व्यक्ति का मतलब है अपूर्व और अद्वितीय (unique) होना। कियर्केगार्ड ने स्पष्ट कहा है कि मेरा साध्य व्यक्ति है (my category is the individual)। अन्य अस्तित्ववादी भी अपने अपने विशिष्ट रूप में इस बात को समझते हैं। अतः हम यह निष्कर्ष प्राप्त कर सकते हैं कि सभी अस्तित्ववादी मनुष्य को व्यक्ति के रूप में प्रधानता देते हैं। इसका मतलब है वह समाज की अपेक्षा व्यक्तिपरक अधिक है।

यह व्यक्ति भी अकेला व्यक्ति है जिसके पास किन्ही परम्परागत मूल्यों का आधार नहीं है अत जो भी करता है उसके लिये वह स्वयं जिम्मेदार है। यहाँ उसको उपदेश देने वाला या मार्गदर्शन कराने वाला प्राप्त नहीं है। उसे स्वयं का चुनाव करना पड़ता है और यह चुनाव उसके स्वयं के जीवन अथवा अन्य व्यक्तियों के जीवन जिनसे उनका सबंध है सब का निर्माण करता है। इसलिए यह बहुत बड़ा उत्तरदायित्व का काय है। उसके इस चुनाव पर इस तरह से पूरे समाज की व्यवस्था पूरे समाज का रूप निर्माण निर्भर करता है और वह यह चुनाव किसी की सहायता से नहीं करता। अपनी चेतना के द्वारा ही उसे यह चुनाव करना पड़ता है इसलिये इस चुनाव के जो भी प्रतिफल होते हैं उनके लिए वह अपने आपको एक भागीदार समझता है। इससे यह बात भी स्पष्ट हो गई कि अस्तित्ववादी केवल एक व्यक्ति की बात नहीं करता जो समाज निरपेक्ष होकर एकात म किसी जगल म जाकर साधना करता है बल्कि उस व्यक्ति की बात करता है जो दूसरे व्यक्तियों के साथ रहता है। दूसरे व्यक्तियों के सपक मे आता है। दूसरे व्यक्तियो से भावात्मक और विचारात्मक रूप से सबद्ध होता है इसतरह व्यक्ति अपने ससार का निर्माण करता है। यह अपना ससार वास्तव म उसकी आत्मा का या चेतना का ससार है। जो वस्तु वह देखता है जिन व्यक्तियों के वह सपर्क म आता है जिन परिस्थितियों का वह भावात्मक या अन्य स्तरो पर जीता है जो विचार वह पढ़ता है अथवा सुनता है उन सबको वह एक आतरिक रूप देता है। और फिर उन सब का अपने अन्तर के अनुसार पुनर्निर्माण करता है। इस तरह से वैज्ञानिक का या तार्किक का वस्तुपरक ससार उसका कायक्षेत्र नहीं है जिसमे किसी तरह की भावना नहीं होती जिसमे किसी प्रकार का सहभाव या (participation) नहीं होता। उस ससार के लिये वह स्वय जिम्मेदार भी है क्योकि जब वह चुनाव करता है तो वह अपने लिये ही चुनाव नहीं करता बल्कि इस पूरे ससार के लिये चुनाव करता है और चुनाव करते समय मनुष्य की और ससार की एक धारणा वह स्वय निर्मित करता है। इसलिये उस चुनाव के सारा का सारा पूरे मानव समुदाय और ससार के लिए उत्तरदायी सिद्ध होता है और चूकि इस चुनाव म वह किसी भी बाहरी शक्ति का सहारा नहीं लेता। वह अपनी चेतना के द्वारा ही अपना यह चुनाव करता है इसलिये उसके मन म एक प्रकार की चिन्ता बनी रहती है। क्योकि वह अपने निर्णय की अनुरूपता या प्रतिरूपता के बारे म निश्चित नहीं रहता। यह

तभिचना उसके मानसिक जगत की दुश्चिन्ता है। यह माप का स्यक्त हर जान का स्थिति नहीं है यदि जो चुनाव किया है उसकी सभावना उसके द्वारा पर हर प्रभाव म वह पीडित होता है और यह दुश्चिन्ता आयतिक परिस्थितिया म सदा पहले घनाभूत होता है। स्थितिय तथा परिस्थितिया म मनुष्य सच रूप म जाता है। जब मनुष्य के समय किसी यति के सामने रिया नहीं की चाहन का सामना रहा है। उस समय उस यति के सामने किसी नहीं की चाहन का सामना रहा है। वह स्वय उस गाली के लिए या मृत्यु के लिए जिम्मेदार रहता है और उसकी चतना पूरा तरह म पूय रहता है।

अस्तित्व का अथ है मानवीय होना। यह मनुष्य का न तो न अलग रहा होना। वह किसी प्रकार का मा स्वा शक्ति पर विश्वास नहीं करता। वह किसी आध्यात्मिक फल की प्राप्ति की चष्टा रहा करता और न किसी निराग त्मक स्तर पर जीवन-यापन करने की चष्टा करता है। वह तो जसा मनुष्य है जिस रूप म मनुष्य अपने आपको बनाना चाहता है उस रूप का वणन करने पात्र करता है। वणन स्थितिय कि उसके अनुसार अस्तित्व का वणन हो किया जा सकता है। वणन से वा तमा पद्धति है जिसम परिभाषा का निमाण नहीं होता जो साराभूत नहीं है।

मनुष्य सभावना है सक्रिया रहत है। मनुष्य का मूल्य न तो स्थितिक अस्ति त्वतान्त्रिा के लिए महत्त्वपूण नहीं है। वतमान के अंतरगत होते हुए वस्तु व रूप म परिलक्षित हो जाता है। और मन म और भूत म कोई फक नहीं रहता। भूत मनुष्य का वायतिक मनुष्य का सभावना तथा मनुष्य का यातना (आनन्द) का किसी भी प्रकार म अनुरागित नहीं करता है। वह न स्मृति रूप म उपयोगी अथवा अनुपयोगी हो सकता है। यदि वह अनुपयोगी होता है तो मनुष्य उस टूटा मान के समान छोड़ देता है। तो मनुष्य तमा नहीं कर पाता वह आम प्रवचक श्रद्धा (बद फेथ) के अनुसार उपयोग करता है। वह गतिहीन होता है और इस तरह म वह सच्चा जीवन व्यतीत नहीं करता। क्योंकि मनुष्य स्वता अतिक्रमणशील प्राणी है। वह इस अतिक्रमण करता है। वह इस तरह से भविष्य के लिए सदा परिवर्तन का निमाण वह स्वय करता है अथात् वह अपने निमाण अन्त भाग रहता है। अपने भविष्य का और उस भविष्य के निमाण म भूत किसी भी प्रकार म बाधक नहीं होता। स्थितिक अस्तित्ववादी आमाणिक जीवन (आथेन्टिक लिविंग) पर अधिक बल

ता है । सामाजिक ... के ... अनुसार निर्णय लेता और ... करता । अपने स्वयं की अपनी पूर्वाग्रह ... का चलना ... का नियम के रूप में प्रयोग कर देना ... अस्तित्ववाद । ... निष्पक्ष ... अर्थ ... का अर्थ है ... ईमानदारी । अस्तित्ववाद ... ईमानदारी ... नैतिक ... को महत्त्व देता है । इस रूप में वह मूल्यों के निर्माता स्वयं है । वह किसी भी प्रकार के सामान्य सार्वभौम या ... मूल्यों में विश्वास नहीं करता । वह जिन मूल्यों का स्वयं निर्माण करता है उन मूल्यों की भी उसी समय तक उपयोगिता है ... जब तक वह ... क्रिया न ... । अस्तित्ववादी मूल्यों की ... निर्धारण में भी विश्वास नहीं करता । मूल्य ... किसी निश्चित ... का आधार नहीं करता । ... मूल्य का ... मूल्यों की ... का मानवता अस्तित्व ... है । इस तरह मूल्य ... की निष्पत्ति मात्र है ... के प्रति ... है ।

अस्तित्ववाद में ... मनुष्य के ... जीवन का ... होता ... की समग्रता में देखा जाता है उसका ... रूप में चिन्तन करना ... प्रत्ययवादी ... का ... है । अस्तित्ववादी मनुष्य ... मनुष्य ... वह ... में ... वह ... अपने आपको पुनर्सृजित करता है । ... मूल्य बनाता है और ... के बिना किसी ... आधार ... है । अस्तित्ववाद ... में एक विशेष प्रकार के मानववाद ... को ... चलता है । ... युग में ... का ... का ... किया गया था कि मनुष्य ही सर्वप्रमुख ... मनुष्य ... है मनुष्य स्वतन्त्र है और मनुष्य ... में पूर्णता ... कर सकता है । इस प्रकार युग की मान्यता का विकास अस्तित्ववाद ... है । ... अस्तित्ववादियों ने प्रबोध युगीन ... की ... अमूर्त परिभाषा की ... उसका ... दिया है । ... मूल ... उन्नति ... कारण ... जो ... ही है । ... परिस्थितियां ... इस बात में विश्वास ... कि मनुष्य पूर्ण है पूर्णता प्राप्त कर सकता है ... उन्नति कर सकता है । अस्तित्ववादी यह मानकर चलते हैं कि मनुष्य ... और ... कर ... है । फिर भी वह अपना ...

और समाज के लिए सन्देश है। यहाँ के रहस्य में जनता की निराशावादिता की प्रतिक्रिया का अंकुर दिखाई मिलता है। क्योंकि वह जानता है कि निराशा का अवलम्बन मनुष्य के जीवन का प्रमुख अंग है। विचार के द्वारा उसका निराकरण नहीं किया जा सकता। उस के द्वारा भी उस निराशा का समाधान प्राप्त नहीं हो सकता। क्योंकि पहला मनुष्य का विषय (object) था, उसका और उसका सम्बन्ध रहस्यवाद का प्रतिपाद्य था। अतः वह कहता है कि यह निराशा और यह अवस्था के साथ भी मनुष्य को जीना चाहिए। इस प्रकार का सामञ्जस्य उसे अपने जीवन में स्थापित करना चाहिए। निराशा को स्वीकार न करके उसे यह मान लेना चाहिए कि निराशा एक सत्य है और जीवन के प्रमुख अंग है इसलिए उसको अपने जीवन के साथ एकरस स्थापित पूर्ण स्वतन्त्र जीवन व्यतीत करना चाहिए। उपन्यास में उन मानवतावाद के विरुद्ध आवाज उठाता है जिसने व्यक्तिगत स्वतन्त्रता उदार शक्ति, जनता की स्वतन्त्रता समाज के निर्माण में व्यक्ति रचना यह सब बातें मूल रूप में मानवतावादी हैं। यह भी मानवतावाद है क्योंकि इस प्रकार प्राचीन मानवतावाद के प्रतिपक्षों के अतिरिक्त मूल्य हटा दिये गये। अपार वासना है। मनुष्य जाति ने यह सिद्ध कर दिया है कि प्राचीन पुरातन मानवतावाद आत्मात्मक परम्परा पर आधारित था भावुकता पूर्ण था जिसका कोई सम्बन्ध आधार नहीं था।

३

कीर्केगार्द

(Kierkegaard)

कीर्केगार्द उन्नीसवीं शताब्दी का डेनी विचित्र व्यक्ति था जिसका प्रभाव अपने युग पर कोई खास नहीं रहा लेकिन बीसवीं शताब्दी में बहुत सी दार्शनिक धाराओं की प्रेरणा का स्रोत बन रहा है। अस्तित्ववाद नास्तिक वस्तुवाद आदि सब इससे किसी न किसी रूप में प्रभावित हुए हैं। उसने बहुत सी पुस्तकें बड़े ही साहित्यिक ढंग से लिखी हैं। उन पुस्तकों में हमें पूरी तरह से तार्किक पद्धति का अनुसरण नहीं मिलता। कीर्केगार्द सीधी रीति से अपने विचारों का प्रकट नहीं करता। वह कवियों के समान अथवा रोमान्टिक लोगों के समान उपनामों आदि के द्वारा अपनी पुस्तकों में सिद्धान्त कथन करता रहा है। इसका एक कारण यह भी था कि वह जनता में यह बतलाना चाहता था कि उपनामों द्वारा लिखी गई पुस्तकों में उसका मत भी शामिल नहीं है जबकि वास्तव में प्रत्येक पात्र उसके द्वारा लिखा हुआ है। ये पुस्तकें कभी कभी बहुत आनन्ददायी हैं कभी कभी बहुत ही उबानेवाली भी हैं। कभी धार्मिक व्यक्ति जैसा व्यवहार उनमें दिखाई देता है तो कभी मानसिक रोगी जैसी बकवास भी दिखाई देती है। लेकिन ये सब रूप कीर्केगार्द के ही रूप थे।

कीर्केगार्द को ठीक इस समय तक नहीं समझा जा सकता जब तक कि उसके जीवन के इतिहास को ध्यान में नहीं रखें क्योंकि यही एक दार्शनिक है जिसके व्यक्तिगत विचार और कार्य में अथवा दर्शन और जीवन में बिलकुल भी अन्तर नहीं दिखता। लगता है कि उसने जीवन को भी दर्शन का रूप दे दिया था और दर्शन को जीवन में परिवर्तित कर दिया था। इस रूप में कीर्केगार्द सच्चा व्यावहारिक दार्शनिक है। कोपेनहेगन में सन् १८१३ में

उसका जन्म हुआ। वह सात बच्चों में अन्तिम था। उसके माता-पिता कृषक परिवार के थे। उसका पिता दुखी स्वभाव का था। उसका पिता जब बच्चा था तो एक दिन धूप में जब वह भेड़ें चरा रहा था अपनी दुख पूर्ण जिन्दगी के लिए उसने ईश्वर को बुरा भला कह दिया। बुढ़ापे में अपनी मृत्यु के समय उसने अपने इस पाप को कीर्केगार्द के सामने स्वीकार किया। कीर्केगार्द प्रारम्भ से ही इतना अधिक धार्मिक वृत्ति का था कि वह इस स्वीकार से बहुत अधिक विचलित हो गया और उसने इस से यह अर्थ निकाला कि आज से ईश्वर का कोप या अभिशाप पूरे परिवार पर रहेगा। इसी कारण वह अपने बचपन को अच्छी प्रकार से सुख पूर्वक नहीं बिता सका। वह अपनी पुस्तकों में स्वीकार करता है कि वह कभी बच्चा था ही नहीं। कभी जवान न हुआ। कभी मनुष्य नहीं बना। कभी जिन्दा नहीं रहा। उसे कभी भी दूसरे व्यक्तियों के साथ सहज सम्बन्धों की अनुभूति नहीं हुई। इसलिए वह हमेशा एक प्रकार के वियोग-पूर्ण जीवन में ही रहा है। वह छद्मनामों के काल्पनिक जीवन में विचरण करता रहा। स्कूल और विश्वविद्यालय में भी वह अजनबी सा रहा। यद्यपि वह बहुत ही होशियार बातचीत करने में कुशल और अपने प्रति मज़ाक करने में मशहूर रह चुका था। उस काल में हीगल का दर्शन बहुत अधिक प्रचलित था। उसने भी हीगल के दर्शन को पढ़ा और बाद में बहुत ही डट कर विरोध किया। १८४० में इसने धर्म विधान की परीक्षा पास की और पस्टोरल सेमीनारी में भर्ती हो गया। इसी साल वह अपनी प्रेमिका रेगिना ओल्सन से एंगेज हुआ और यह एंगेजमेन्ट १८४१ में उसने तोड़ दिया। यह ऐसी घटना थी जिसने उसके आध्यात्मिक जीवन और साहित्यिक जीवन को बहुत गहराई से प्रभावित किया। इसके बाद उसने बहुत लिखा। उसके लेखन-कार्य ने डेनिश पत्र पत्र इत्यादि को उसका शत्रु बना लिया। पर एक ऐसा पत्र है जो चर्च का समर्थन करता था। अन्तिम समय में कीर्केगार्द ने चर्च की स्थापना का बहुत बुरी तरह से विरोध किया। इस विरोध के कारण उसका स्वास्थ्य धीरे धीरे बिगड़ता गया और १८५५ के २ अक्टूबर को कोपेनहेगन की सड़क पर चलता हुआ वह गिर पड़ा और बेहोशी की अवस्था में ही वह ११ नवम्बर को मर गया। कीर्केगार्द का पूरा जीवन अव्यवस्था असंगति और असामञ्जस्य में ही व्यतीत हुआ। इसका प्रभाव उसके दर्शन पर भी पड़ा है।

कीर्केगार्द सच्चे अर्थ में अस्तित्ववादी नहीं है। अस्तित्ववाद का आज हम जो अर्थ बीसवीं शताब्दी में लेते हैं वह अस्तित्ववाद उसमें नहीं मिलता। फिर

शन्ट म कीर्कगार्ड के अनुसार यह युग सिद्धान्तीकरण का युग या जीवन का युग नहा धम का युग नहीं।

इसलिए वह हीगल के अमूर्त विचार सामान्य सिद्धान्त पर उसके बल उसके सब अस्तित्ववाद और बुद्धि के माध्यम (mediation) का विरोध करता है। उसके अनुसार हीगल का दर्शन प्रतिज्ञा (commit) नहीं करता इसलिए उसम जिन्दा जावन नहीं है। कार्केगार्ड समष्टि के विरुद्ध व्यक्ति की रक्षा करता है अर्थात् उसके अनुसार व्यक्ति प्रमुख है। व्यक्ति की भावनाए उसके व्यवहार उसके जीवन के आधार उसकी निराशा—यही सब सच्चा जीवन है। जो दर्शन इस जीवन की अवहेलना करता है वह दर्शन केवल बौद्धिक विलास है। सच्चा दर्शन एक वास्तविक मानव की परिस्थिति का एकान्त और व्यक्तिनिष्ठ रूप म अध्ययन करता है। कार्केगार्ड का यह विद्रोह अथवा यह विरोध धार्मिक प्रवृत्ति का अधिक है। वह सब प्रकार के वस्तु परक ज्ञान वस्तु परक मान्यता और स्वनिरपेक्ष विचार का अनुपयोगी मानता है। वह कहता है It is only systematists and objective philosopher who have ceased to be human beings and have become speculative philosophy in abstract an entity which belongs in the realm of pure being

•

कीर्कगार्ड व्यक्ति के अन्तर्गत की नई व्याख्या करता है। उसके अनुसार आत्मा का या व्यक्ति का समूह म लुप्त हो जाना यह बाहरी अलगाव है। यहां पर कीर्कगार्ड हीगल म सहमत है। हीगल के समान वह यह बात मानता है कि अलगाव-सम्मिश्र म ही अलगाव है लेकिन वह इसके विरुद्ध अमूर्त या सामान्य सम्मिश्र के स्थान पर व्यक्तिगत अलगाव का स्वीकार करता है। मनुष्य की बौद्धिक समानता भी एक प्रकार के अलगाव का प्रकट करती है। लेकिन यहां उसकी व्याख्या कुछ भिन्न है। मनुष्य ने अपनी आत्मा को भुला दिया है मनुष्य ने मनुष्य होना बन्द कर दिया है और वह धीर धीरे अमानवीय होता जा रहा है। वह इतना वस्तुपरक हो जायगा कि वह अब सामान्य भी नहीं रह सकता। वह नाश हो गया है और उसका मूल जिन्दा जीवन नष्ट हो गया है। वह अब अस्मित न। अनस्मित है और इस रूप म वह इस्तेमाल भी नहीं है यद्यपि बाहरी रूप म वह बच जाता दिखा दिया जाता है।

कीर्केगार्द के अनुसार यह आत्म विच्छिन्नता प्रत्येक व्यक्ति की आत्मा में हो रहा क्रिया है। लेकिन उसका सम्बन्ध बाहर से नहीं है। यह एक प्रकार का आंतरिक सम्बन्ध है और इसकी स्थिति व्यक्ति के अपनी आत्मा के प्रति एक विशेष दृष्टिकोण में है। इसलिए कीर्केगार्द की आत्म विच्छिन्नता का एक मनोवैज्ञानिक आधार दिखाई देता है। वह इस विच्छिन्नता को दुश्चिन्ता (anxiety) के रूप में वर्णित करता है। दुश्चिन्ता भय से भिन्न है। भय का एक निश्चित कारण होता है जैसे मुझे सांप से डर लगता है। किन्तु दुश्चिन्ता का कोई निश्चित कारण नहीं होता। इसका सम्बन्ध किसी वस्तु विशेष से नहीं होता इसलिए वह अस्पष्ट और अज्ञात काल्पनिक संकट के आभास पर आधारित रहती है। दुश्चिन्ता मन की होती है। यह दुश्चिन्ता सभी व्यक्तियों में है ऐसा कीर्केगार्द मानता है। इस दुश्चिन्ता में मनुष्य की व्यक्तिपरकता अथवा स्वतन्त्रता डूब जाती है उसके सामाजिक सम्बन्ध इस दुश्चिन्ता के कारण विरोधपूर्ण हो जाते हैं। कीर्केगार्द ने अपनी पुस्तक 'The concept of dread' में दुश्चिन्ता का विशेष विवेचन किया है और इसका सम्बन्ध आत्मपरकता से बड़ा गहरा और मनोवैज्ञानिक बताया है। वह इसकी परिभाषा इस तरह देता है— जब व्यक्ति किसी बाहरी शक्ति से इतना अधिक भयभीत हो जाता है कि उसे अपने नाश की संभावना महसूस हो यह स्थिति ही दुश्चिन्ता है।

अपनी दूसरी पुस्तक 'Sickness unto death' में वह इस आत्म विच्छिन्नता के दूसरे स्तर पर पहुँचा है। यहां पर दुश्चिन्ता गंभीर निराशा में परिवर्तित हो जाती है और यह निराशा मृत्युपर्यन्त रोग है। इस पुस्तक में जो वर्णन है वह इन्द्रिय विषय वर्णन पद्धति का है। यह व्याख्या परवर्ती अस्तित्ववादी मनोवैज्ञानिकों के लिए आधार रूप रही है। कीर्केगार्द के अनुसार व्यक्ति की अपनी आत्मा के प्रति सम्बन्धगत असंगति से निराशा उत्पन्न होती है। दूसरे शब्दों में व्यक्ति के आत्मस्वरूप चयन की प्रक्रिया में जब बाधा उत्पन्न होती है तब निराशा की उत्पत्ति होती है। यह आध्यात्मिक व्यक्ति का एक विशेष प्रकार का रोग है जो अपने आप से अलग करने के प्रयत्न से ही पैदा होता है। अथवा जो कुछ उसमें शाश्वत है उसकी उपेक्षा से या अपनी आध्यात्मिक प्रवृत्ति को भूल जाने से उत्पन्न होते हैं। कीर्केगार्द के अनुसार ईश्वर रहित और आत्महीन व्यक्ति हमेशा निराशा से ग्रस्त रहता है। इस निराशा के कई रूपों का वर्णन कीर्केगार्द ने किया है। यह निराशा अचेतन स्तर पर भी हो सकती है जब कि व्यक्ति अपनी इस निराशा की जानकारी नहीं रखता

और यह चेतन अस्तित्व में ही हो सकती है जब वह जानता है कि वह निराश है। कीर्केगार्द के अनुसार मनुष्य ससीम और असीम, संभावना और निर्धारित का संमिश्रण है। इन दोनों तत्त्वों में स्वाभाविक विरोध है। मनुष्य स्वयं को असीम समझता है। वह असीम बनना चाहता है और बाद में उसे पता चलता है कि वह असीम नहीं हो सकता क्योंकि असीम तो केवल ईश्वर ही है। वह अपनी असीमता का बौद्धिक रूप में पीछा कर निराश हो जाता है और इस निराशा के कारण वह अपनी आत्मा को भूल जाता है। असीम और ससीम को बराबर जानबूझ कर वह भुला देना चाहता है। इसी प्रकार वह अपनी संभावना के आधार पर सब कुछ का स्वामी बनने की चेष्टा करता है किंतु प्राकृतिक बाधाओं के कारण उसकी यह स्वतंत्रता अवरुद्ध होती है और वह निराशा के सागर में डूब जाता है। व्यक्ति में अपनी इस निराशा के दो निषेधात्मक असर दिखाई देते हैं। वह आत्म रूप को प्राप्त करने की इच्छा रखता है जिससे निराशा उत्पन्न होती है अथवा वह इस निराशा से बचने के लिए आत्म रूप प्राप्त करने की इच्छा नहीं करता है। फिर भी वह निराशा के अस्तित्व से मुक्त नहीं हो सकता है। क्योंकि वह आत्म रूप (himself) होने की इच्छा न करने में भी उतना ही निराश रहेगा जितना आत्मरूप प्राप्त करने की इच्छा में होता है। प्रथम रूप में अपनी कमजोरी के भाव से निराशा उत्पन्न होगी जबकि दूसरे रूप में समस्त प्रतिरोधों के बावजूद भी यह रहेगी।

प्रकार के व्यक्तिवाद का समर्थक नहीं है। कीर्केगार्द का व्यक्तिवाद धर्म पर आश्रित है। ईश्वर के सम्मुख उसमें [illegible] कहा है तथा वह सच्चे अर्थों में व्यक्ति हो सकता है क्योंकि इन सब भावों का अनुभव व्यक्तिगत है। इससे स्पष्ट होता है कि कीर्केगार्द का व्यक्तिवाद विशिष्ट है। इसको सामान्य और विज्ञान में उत्पन्न मानवतावादी व्यक्तिवाद के रूप में हमें नहीं समझना चाहिये। इस व्यक्तिवाद का अर्थ है अन्तर्मुखी होना अर्थात् अपनी ही आत्मा के संसार में बाहरी संसार की अपेक्षा अधिक तदाकार होना। इसके शब्दों में अपने सच्चे अस्तित्व को प्राप्त करना।

•

इस अस्तित्व के कीर्केगार्द तीन स्तर मानता है—भोग्य (aesthetic) नैतिक (ethical) और धार्मिक (religious)। भोग्य स्तर में मनुष्य बच्चे के समान जीवन व्यतीत करता है। वह सुख दुख के क्षणों में जीवित रहता है। भोग्य वस्तु और भोगकर्ता में मग्न होकर रहता है। वह भावना के स्तर पर जिन्दा रहता है। उसके लिए कोई भी वस्तु आनन्ददायक है या दुखदायक है। भोगी व्यक्ति केवल सुखपूर्ण क्षणों में रहना पसन्द करता है अर्थात् इन्द्रिय सुख ही उसका परम लक्ष्य होता है। प्राचीन चिन्ता धारा में एपीक्यूरियनिज्म इसी प्रकार का जीवन दर्शन था। कीर्केगार्द मानता है कि भोगी व्यक्ति अनन्त निराशा से आक्रान्त रहता है। उसे सुख की परिस्थितियों में भी दुख की अनुभूति होती है, दुख का आभास रहता है। इसलिए भोगी व्यक्ति ऊब (boredom) से बचने के लिए अपने विषयों में परिवर्तन करता रहता है। वह पूरी तरह से भौतिक स्तर पर जीवन व्यतीत करता है। कीर्केगार्द इस भोग्य स्तर में एक बहुत नवीन अर्थ भी रखता है। उसके अनुसार विचारात्मक दार्शनिक या बौद्धिक भी इसी स्तर पर जीवित रहता है। बौद्धिक व्यक्ति विषयों की विविधता में रहता है।

भोगी जीवन का स्तर [illegible] न इन्द्रियों से कभी भी पूर्ण नहीं होता क्योंकि वह इसका [illegible] स्तर पर जीवित रहता है। इसका मतलब यह नहीं है कि कीर्केगार्द इस अवस्था को पूर्ण तरह से उपेक्षणीय मानता है। वह यह चाहता है कि वह जीवन की दूसरी अवस्थाओं को [illegible] न दे। यह अवस्था जीवन की समग्रता का एक अंशमात्र है। तभी व्यक्ति इस स्तर पर टिका

मनुष्य के पूरे जीवन और पूरी प्रकृति का परिवर्तित हो जाना। कार्केगार्ड इसको योरोप की लड़ाई या विश्व युद्ध से भी अधिक भयानक और हृदय को दहला देने वाली घटना मानता है। क्योंकि इसके कारण मनुष्य के मन के विश्व में गहराई से आन्दोलन उत्पन्न होता है। धार्मिक वचन का अर्थ या निश्चियन होने का अर्थ सच्चे अस्तित्व के आधार से प्रभावित होना है और सभी प्रकार की जिम्मेदारियों के साथ कार्य करना है। इस स्तर पर साथ साथ त्याग और ज्ञान प्राप्ति के दो काम मनुष्य को करने पड़ते हैं। सच्चा अस्तित्व अन्तर में छिपा हुआ है जबकि सामान्य स्थिति स्थूल है प्रकट है। इस सामान्य स्थिति का सम्बन्ध पूर्व विवेचित भाग्य और नैतिक स्तर से है। धार्मिक क्षेत्र में उस इस स्थूल स्थिति का त्याग करना पड़ता है और मन में छिपे हुए सच्चे अस्तित्व को प्रकट करना पड़ता है। इसलिए उसमें हमेशा एक प्रकार का तनाव रहता है। कार्केगार्ड कहता है कि यही मनुष्य की अनमुक्तता है सब जटिलता है। कार्केगार्ड के अनुसार ईश्वर को इसी रूप में आन्तरिक स्थिति है। यहाँ एक बात और ध्यान में लाने योग्य है कि कीर्केगार्ड भाग्य और नैतिक स्तरों को उस रूप में त्याज्य नहीं समझता है जिस रूप में एक भारतीय संन्यासी या सन्त त्याज्य समझता है। कीर्केगार्ड के अनुसार इन दोनों स्तरों को धार्मिक स्तर के अन्तर्गत रखना पड़ता है। इसलिए प्रत्येक क्षण इन स्तरों के दबाव के कारण उसे दुश्चिन्ता और निराशा का सामना करना पड़ता है। इसलिए धार्मिक स्तर पर व्यक्ति को अपने निर्णय को प्रत्येक क्षण पुनर्जीवित करना पड़ता रहा है। पुनर्जीवित का अर्थ है ईश्वर के सामने बार बार अपने आप को प्राप्त करना। वह अपने व्यक्तित्व में जो किया जा चुका उसे दूर कर देता है और जिन वस्तुओं को वह पहले छोड़ देता है उनको वह फिर ग्रहण करता है और फिर स्थितप्रज्ञ स्थिति प्राप्त कर लेता है पर यह उसे हर क्षण करना पड़ता है। हर क्षण उसे स्थितप्रज्ञ बनना पड़ता है। इस तरह वह वरण करने का अनन्य चलता रहता है। यह एक नियम हो जाता है।

यहाँ कार्केगार्ड का क्रिश्चियन होने का क्या अर्थ है यह जानना भी आवश्यक है। क्रिश्चियन होने का अर्थ है भगवान के सम्मुख शुद्ध भाव से अपने सच्चे रूप में यह अनुभव करना कि भगवान किसी भी प्रकार वस्तुपरक सिद्धान्तों के द्वारा जाने नहीं जा सकते हैं अर्थात क्रिश्चियन होने का अर्थ है व्यक्तिगत स्तर पर धर्म को स्वीकार करना और भगवान को भी सिद्धान्त के रूप में न रखकर एक सनातन स्थिति के रूप में स्वीकार करना। केवल क्रिश्चियन समाज

म न म नन म य वन म नान म न्न का न्यन्ति निश्चियन नग न्ग जाता । न्मनिन निश्चियन न्पान का मनलव मानव न्पाना अथवा सजाव स्थिति का अनुभव करना उसके अनुसार राय करना है । मस्थागत धम और धम विषयक सिद्धान्त म उनक धम का बना विराध है । कार्कगार्ड समूह धम म विश्वास नगा करना और धम क उपर पर म भी विश्वास नगा करना । कीर्कगाद के नावन की मत्त्व समस्या यहा न्मा म कार्कगार्ड का पूरा विचार-तन्त्र घूमता रहा है । कार्कगार्ड न अपना पुस्तक Concluding un cientific post script म जा विवचन किया है वह विवचन कार्कगार्ड क पूर दार्शनिक दृष्टिकोण का प्रति निधित्व करता है । न्स पुस्तक म प्रस्थापित उसका मान्यताओं का सक्षप म न्स न्स प्रकार रख सकत है—

(१) सच्चा सारभूत नान अस्तित्व म सम्बन्धित हाता है और कवल वग नान जिसका अस्तित्व न सारभूत सबन्ध है सारभूत नान है । न्सका अथ है कि अस्तित्व का धारणा सारभूत नान नहीं है सजीव अस्तित्व म सबन्धित वह न्यक्तिगत ... ना सच्चा सारभूत नान (essential knowledge) है ।

(२) वह पूरा नान जिसका सबन्ध अस्तित्व म नग है और ना कवल विचार पर आश्रित है असारभूत नान है ।

( ) वस्तुपरक विचार और नान का आत्मपरक विचार और नान म अलग समझना चाहिय । वस्तुपरक विचार विषय म अमूत वस्तु परक सत्य (objective truth) का आर ल जाता है । (जस गणित न्पान और इतिहास का नान) न्स तरह न्स शक म अस्तित्व का पूरी तरह अवहलना हाता है । वह अस्तित्व क प्रति उदासीन रहता है ।

(४) आत्मपरक विचार करन की पद्धति वस्तुपरक तथ्य क प्रति उन्मुख है जबकि अन्तर और आन्तरिक सत्य क प्रति वह उदासीन रहता है । फलत यह वस्तुपरकता कवल एक धारणा मात्र हाता है ... अस्तित्व का निर्माण नग करना ।

(५) आन्तरिक नान म ... आत्मसात्करण (appropriation) आवश्यक है । आन्तरिक विचार म अस्तित्व आत्मसात्करण रूप में रहता है । न्सलिय यथार्थ अस्तित्व का नान व्यक्ति का स्वकीय

मनुष्य के पूरे जीवन और पूरी प्रकृति का परिवर्तन हो जाना। कीर्के-गार्द धार्मिक को नैतिक से भिन्न स्तर में भी स्वीकार करता और उसको और — धार्मिक कहना चाहता है। क्योंकि इसके कारण मनुष्य के मन के भीतर में तनाव या चिन्ता उत्पन्न होता है। धार्मिक स्तर को ही वह निश्चियन ज्ञान का अर्थ मानता है व्यक्ति के आधार में प्रकाशित होता है और मनुष्य ईश्वर की जिम्मेदारियों के साथ साथ करता है। इस स्तर पर साथ साथ त्याग और ज्ञान प्राप्ति के लिए सम्पूर्ण का ग्रहण करना है। इसी प्रकार में लिया गया है यद्यपि सामान्य स्थिति स्थूल है परन्तु है। इस सामान्य स्थिति का सम्बन्ध पूर्व विवेचित सौन्दर्य और नैतिक स्तर से है। धार्मिक स्तर में उसे इस स्थूल स्थिति का त्याग करना पड़ता है और मन में छिपे हुए सत्य अस्तित्व को प्रकट करना पड़ता है। इसलिए उसमें हमेशा इस प्रकार का तनाव रहता है। कीर्केगार्द कहता है कि यही मनुष्य की असमुग्नता है सब जटिलता है। कीर्केगार्द के अनुसार ईश्वर का इस रूप में सार्वत्रिक स्थिति है। यहाँ एक बात और ध्यान में रखने योग्य है कि कीर्केगार्द सौन्दर्य और नैतिक स्तरों को उस रूप में त्याज्य नहीं समझता है जिस रूप में एक भारतीय संन्यासी या मत त्याज्य समझता है। कीर्केगार्द के अनुसार इन दोनों स्तरों को धार्मिक स्तर के अन्तर्गत लेना पड़ता है। इसलिए प्रत्येक क्षण इन स्तरों के दबाव के कारण उसे दुश्चिन्ता और निराशा का सामना करना पड़ता है। इसलिए धार्मिक स्तर पर व्यक्ति को अपने निर्णय को प्रत्येक क्षण पुनर्जीवित करना पड़ता रहा है। पुनर्जीवित का अर्थ है ईश्वर के सामने बार बार अपने आत्म रूप को प्राप्त करना। वह अपने अस्तित्व में जो किया जा चुका उसे दूर कर देता है और जिन वस्तुओं को वह पहले छोड़ देता है उनको वह फिर ग्रहण करता है और फिर स्थितप्रज्ञ स्थिति प्राप्त कर लेता है पर यह उसे हर क्षण करना पड़ता है। हर क्षण उसे स्थितप्रज्ञ बनना पड़ता है। इस तरह यह वरण करने का नरन्तय चलता रहता है। यह एक नियम हो जाता है।

यहाँ कीर्केगार्द का निश्चियन ज्ञान का क्या अर्थ है यह जानना भी आवश्यक है। निश्चियन ज्ञान का अर्थ है भगवान के सम्मुख शुद्ध भाव में अपने सहज रूप में यह अनुभव करना कि भगवान किसी भी प्रकार वस्तुपरक सिद्धान्तों के द्वारा ज्ञेय नहीं है अर्थात निश्चियन ज्ञान का अर्थ है व्यक्तिगत स्तर पर धर्म का अनुभव करना और भगवान को भी सिद्धान्त के रूप में न लेकर एक अज्ञात स्थिति के रूप में स्वीकार करना। केवल निश्चियन समान

म न्म तन म या बच म जात स न्ा कोइ यदि विश्चियन नहा हा जाता। इसलिय क्रिश्चियन हान का मतलब मानव ज्ञाना अर्थात सजाव स्थिति का अनुभव करना उसके अनुसार काय करना है। सम्प्रदागत धम और धम विषयक सिद्धात म उक्त धम का कडा विराध है। कीर्केगार्ड समू्ह धम म विश्वास नहा करता और धम क बाधक पक्ष म भी विश्वास नहा करता। कीर्केगार्ड क जीवन की मुख्य समस्या यही है इसी म कीर्केगार्ड का पूरा विचार तन्त्र घूमता रहा है। कीर्केगार्द ने अपनी पुस्तक Concluding unscientific post script म जो विवेचन किया है वह विवेचन कीर्केगार्ड के पूरे दार्शनिक दृष्टिकोण का प्रति निधित्व करता है। उस पुस्तक म प्रस्थापित उसकी मान्यताओं को सक्षप म हम इस प्रकार रख सकते ह—

(१) सच्चा सारभूत ज्ञान अस्तित्व स सम्बन्धित होता है और केवल वही ज्ञान जिसका अस्तित्व स सारभूत सब व ह सारभूत ज्ञान है। इसका अथ है कि अस्तित्व की धारणा सारभूत ज्ञान नहीं है, सजीव अस्तित्व स सर्वाधिक निश्चय पद्धति का ज्ञान हो सच्चा सारभूत ज्ञान (e sential knowl dge) है।

(२) वह पूरा ज्ञान जिसका सबध अस्तित्व से न ी है और जा केवल विचारा पर आश्रित है असारभूत ज्ञान है।

( ) वस्तुपरक विचार और ज्ञान को आत्मपरक विचार और ज्ञान स अलग समझना चाहिये। वस्तुपरक विचार विषय स असूल वस्तु परक सत्य (objective truth) की ओर ल जाता है। (जस गणित ज्ञान और इतिहास का ज्ञान) इस तरह इस दाय म अस्तित्व की पूरी तरह अवहेलना होती है। वह अस्तित्व क प्रति उदासीन रहता है।

(४) वस्तुपरक विचार करन की पद्धति वस्तुपरक तथ्य क प्रति उन्मुख है जबकि अन्तर और आन्तरिक सत्य क प्रति वह उदासीन रहती है। इसन यह वस्तुपरकता केवल एक धारणा मात्र रहता है सबक अस्तित्व का निरूपण नहा करता।

(५) आन्तरिक ज्ञान म वयक्तिक आत्मसात्करण (appropriation) आवश्यक है। आन्तरिक विचार म अस्तित्व आत्मसात्कृत हा म जाता है। इसलिय अपने अस्तित्व का ज्ञान व्यक्ति का स्वकीय

अस्तित्ववादी ज्ञान का एक विषय मात्र समझें। हमारा सम्बन्ध उस विचारक से है जहाँ विषय अपने विचार में engage होता है। विचार ही अस्तित्ववान के लिये आवश्यक नहीं है इसके लिए जीना आवश्यक है। व्यक्ति को अपने विचार को जीना पड़ता है उस अपने विचार को आत्मसात करना पड़ता है अर्थात् विचारों को अपना बनाना पड़ता है इस तरह कि यह आन्तरिक विचार पूरी तरह से एक प्रक्रिया बन जाए [illegible] की प्राप्ति के लक्ष्य से रहित जीवन जिया मात्र रहे। यही अस्तित्व है।

इसलिए यह बात फिर सामने आती है कि आखिर अस्तित्व क्या है? कीर्केगार्ड का अस्तित्व से क्या अर्थ है? क्या उसका यह सिद्धान्त है कि अस्तित्व आन्तरिक है अथवा माना गया है? कीर्केगार्ड अस्तित्व की वह व्याख्या नहीं करता है जो वस्तुनिष्ठ [illegible] जो वस्तुपरक है। वास्तव में कीर्केगार्ड के अस्तित्व का वह अर्थ है जिस अर्थ में सामान्य भाषा में प्रायः हम प्रयुक्त करते हैं। मैं अपने मित्र के प्रति सच्चा हूँ—इसका अर्थ है कि मैं अपने मित्र के प्रति वफादार हूँ। इसलिए कीर्केगार्ड का अस्तित्व आत्मा का सच्चा स्वरूप है अपने प्रति ईमानदारी है। इस रूप में यह अस्तित्व का आत्मा का अस्तित्व होता है। मनुष्यों का अस्तित्व [illegible]। यह वफादारी केवल सम्बन्धित व्यक्ति की अन्य किसी व्यक्ति के प्रति नहीं है बल्कि सर्वशक्तिमान ईश्वर के प्रति सम्बन्धित व्यक्ति की ईमानदारी है। स्पष्ट है कि कीर्केगार्ड अस्तित्व का धार्मिक अर्थ ग्रहण करता है।

अब हम विचार करें कि कीर्केगार्ड के ज्ञान में आज के समाज में कौन सी बात नयी है जो उपयोगी हैं। कीर्केगार्ड ने अपने युग का जो चित्रण किया था जिस समूह मनुष्यों की समस्याओं का चित्रण किया गया था वह आज भी वहाँ की वहाँ बनी हुई हैं। बल्कि कुछ और बढ़ गयी हैं। दुनिया में वैज्ञानिक औद्योगिक विकास राजनीतिक क्षेत्र में तानाशाही के विकास और सामाजिक क्षेत्र में मनुष्य की अशान्ति और मशीनों की व्याप्ति के कारण आज का मनुष्य धीरे धीरे मशीन मानव बनता जा रहा है। अब अपना व्यक्तित्व या अस्तित्व को भूलता जा रहा है। इसलिए व्यक्ति की स्वतंत्रता पर कीर्केगार्ड ने जो इतना अधिक महत्त्व दिया है वह आज भी उतना ही महत्त्वपूर्ण है। [illegible]। यही कारण है कि आज के [illegible] सम्प्रदायों में [illegible] कीर्केगार्ड

में ऐसा [illegible] है। [illegible] समाज [illegible] द्वारा [illegible] धार्मिक [illegible] है।

[illegible] के मत में अनुशासन [illegible] युग [illegible] है। [illegible] अनुशासन [illegible] है [illegible] बुद्धि [illegible] है। [illegible] है। क्योंकि अनुशासन [illegible] धार्मिक क्षेत्र में [illegible] है और [illegible] मार्ग [illegible] । धार्मिक क्षेत्र में अनुशासन गलत था [illegible] है। धार्मिक नियम और धार्मिक अधिकारियों का इस युग [illegible] में ह्रास [illegible] । इसी प्रकार बुद्धि [illegible] इस विस्तार [illegible] कर सकते क्योंकि बुद्धि इस व्यवस्था देता है। बुद्धिवादियों का [illegible] उत्पन्न करेगा जिससे प्रत्येक [illegible] मनुष्य सामाजिक नियन्त्रण [illegible] में व्यक्तिगत प्रवृत्तियों के आधार पर आश्रित रहने लगेगा। इस प्रकार की अराजकता उत्पन्न होगा। इस तरह [illegible] का [illegible] समाज के सम्बन्ध में बड़ा अनुपयोगी लगता है।

४

कार्ल यास्पर्स

(Karl Jaspers)

यास्पस आधुनिक अस्तित्ववाद का जनक है। यास्पस का जीवन बहुविध रहा है। उसने शुरू में कानून का अध्ययन किया। फिर तीन वर्ष तक चिकित्सा विज्ञान के अध्ययन के पश्चात एक मनोरोग औषधालय में सहायक रहा। १९१८ में मनोविज्ञान में व्याख्याता हो गया। और तब से वह हिडलबर्ग के दान में भी दर्शन के आचार्य के रूप में कार्य कर रहा है। यास्पस के दर्शन में स्वाभाविक मनोवैज्ञानिक विश्लेषण अधिक प्राप्त होता है। वह असामान्य (abnormal) प्रवृत्तियों के वर्णन में पटु रहा है।

यास्पस ने भी कार्कैगार्ड के समान अपने युग की मानवीय दशा का निदान किया है। अपनी प्रसिद्ध पुस्तक Man In the Modern World में वह आधुनिक पश्चिमी मनुष्य की स्थिति और उसकी समस्या का बड़ा सटीक वर्णन करता है। यास्पस की समस्या कुछ कुछ कार्कैगार्ड द्वारा चित्रित समस्या से मेल खाती है। समस्या आज आत्म-विच्छिन्नता और अलगाव (alienation) की है। इस समस्या का मूल कारण तकनीकी युक्तियों की सहायता से योजित उत्पादन (planned production) में जनसाधारण की समाहिति है। जन साधारण भी योजित उत्पादन का अंग या पशु बनता जा रहा है। मनुष्य आधुनिक राज्य की मशीन का एक पुर्जा बन जाने के खतरे में है और इस प्रकार वह अपने सच्चे आत्मा और आध्यात्मिक केन्द्र से च्युत हो गया है। अथवा इसे पूर्णतः भूल गया है। समाज में मनुष्य व्यक्ति की जगह समूह व्यक्ति (mass man) बनता जा रहा है। वह अपना प्रामाणिक जीवन को छोड़कर अप्रामाणिक सामान्य जीवन को जिता रहा है। वह राज्य के माध्यम के रूप में

स प्रेरणा प्राप्त करने रहे हं। क्योंकि कार्कगार्ड अनयास विभिन्नता और आधुनिक स्थितियों का ही भावात्मक चित्रण करता है।

कार्कगार्द के दर्शन में वस्तुपरकता में पूर्ण प्रतिगामिता है। वस्तुपरक सत्य के अस्तित्व के बारे में ही शंका पैदा की गई है। यह बात बुद्धि विरोधी दिखाई देती है। इसलिए ग्राह्य नहीं है। क्योंकि वस्तुपरक अस्तित्व अपने क्षेत्र में कार्यशील रहता है और इसकी आवश्यकता हम स्वीकार करना चाहिये। वैज्ञानिक क्षेत्र में वस्तुपरक सत्य की प्राप्ति करने का गुण है। वैज्ञानिक निष्कर्ष और वैज्ञानिक आविष्कारों को हम पूरी तरह से छोड़ नहीं सकते। इसी प्रकार बुद्धि का भी हम तिरस्कार नहीं कर सकते क्योंकि बुद्धि हमें व्यवस्था देती है। बुद्धिहीनता अव्यवस्था ही उत्पन्न करेगा जिसका अर्थ होगा मनुष्य सामाजिक न रहकर पूरी तरह से व्यक्तिगत प्रवृत्तियों के आधार पर जीवित रहने लगेगा। एक प्रकार की अराजकता उत्पन्न होगा। इस तरह कार्कगार्ड का दर्शन समाज के संदर्भ में और अनुपयोगी लगता है।



कार्ल यास्पर्स

(Karl Jaspers)

यास्पर्स आधुनिक अस्तित्ववाद का जनक है। यास्पर्स का जीवन बहुविध रहा है। उसने शुरुआत में कानून का अध्ययन किया। फिर तीन वर्ष तक चिकित्सा विज्ञान के अध्ययन के पश्चात् वह मनोरोग औषधालय में सहायक रहा। १९१३ में मनोविज्ञान में व्याख्याता हो गया। और तब से वह शिक्षण के क्षेत्र में ही दर्शन के आचार्य के रूप में कार्य कर रहा है। यास्पर्स के दर्शन में रूमानिक मनोवैज्ञानिक विश्लेषण अधिक प्राप्त होता है। वह असामान्य (abnormal) प्रवृत्तियों के वर्णन में बजाइ रहा है।

यास्पर्स ने भी कीर्केगार्द के समान अपने युग की मानवीय दशा का निदान किया है। अपनी प्रसिद्ध पुस्तक Man in the Modern World में वह आधुनिक परिवेश में मनुष्य की स्थिति और उसकी समस्या का बड़ा सटीक वर्णन करता है। यास्पर्स की समस्या कुछ कुछ कीर्केगार्द द्वारा चित्रित समस्या से भिन्न लगती है। समस्या आज व्यक्ति-विच्छिन्नता और अलगाव (alienation) की है। इस समस्या का मूल कारण तकनीकी युक्तियों की संरचना में योजित उत्पादन (planned production) में जनसाधारण की समाहिति है। जनसाधारण भी योजित उत्पादन का अंग या यंत्र बनता जा रहा है। मनुष्य आधुनिक राज्य की मशीन का एक पुर्जा बन जाने के खतरे में है और इस प्रकार वह अपने सत्व आत्मा और आध्यात्मिक केन्द्र से च्युत हो रहा है। अपना स्व पूर्णत: भूल रहा है। समाज में मनुष्य व्यक्ति की जगह समूह व्यक्ति (mass man) बनता जा रहा है। वह अपने प्रामाणिक जीवन को छोड़कर अप्रामाणिक सामान्य जीवन को बिता रहा है। वह राज्य के माध्यम के रूप में

परिवर्तित हो रहा है। इसलिए आज के व्यक्ति की अस्मिता का खतरा है। वह समूहगत व्यवस्था में अपने व्यक्ति-अस्तित्व को कैसे बनाए रखे, वह मनुष्य कैसे रहे ? यही आज का सबसे बड़ा प्रश्न है। औद्योगिक और तकनीकी उन्नति, राजनीतिक वाद और जीवन में बढ़ती हुई वस्तु अभिमुखता ने अमानवीकरण (dehumanization) और व्यक्तिवाद को उत्पन्न कर दिया है। ये दोनों मनुष्य के एकान्त अस्तित्व को दाढ़ों में दबाये हुए हैं। यास्पर्स का समाधान है कि प्रत्येक मनुष्य अपने अनैतिहासिक सत्त्व—आत्मा—की रक्षा कर उसे सजगता से प्रतिष्ठित करे। अपने इस समाधान में उसने पूरे दर्शन की परम्परा को सूक्ष्म रूप में समाहित कर लिया है। और इसे एक नया रूप दिया है।

दर्शन के क्षेत्र में यास्पर्स इस धारणा से आरम्भ करता है कि एक प्रदत्त बाह्य विश्व है जिसमें चिन्तक स्थित है, जीता है और कार्य करता है। यह विश्व ठोस वस्तुओं द्वारा निर्मित है। ये वस्तुएं व्यक्ति के ज्ञान को अनुशासित करती हैं। यह विज्ञान का विश्व है। यह वस्तुरूप है क्योंकि यह बोध अथवा अनुभव गम्य है और इसका सम्प्रेषण के लिए विचारात्मक प्रत्ययभूत प्रतिनिधि प्राप्त किया जा सकता है। अर्थात् इसका वस्तुपरक ज्ञान अथवा विज्ञान प्राप्त किया जा सकता है जो सब लोगों को बौद्धिक स्तर पर ग्राह्य एवं स्वीकार्य हो सकता है। विज्ञान इस प्रकार बोधगम्य विश्व और मानवीय बोधात्मकता में एक विशेष प्रकार का सम्बन्ध है।

यास्पर्स अस्तित्व (being) के तीन रूप मानता है— १—तत्रास्तित्व (being there) २—स्वास्तित्व (being oneself) और ३—स्वतन्त्रास्तित्व (being in itself)। तत्रास्तित्व के [illegible] के निरूपण में [illegible] स्पष्ट [illegible] सकता है। [illegible] अर्थात् [illegible]। [illegible] तत्रास्तित्व की [illegible] स्थिति है। इसका ज्ञान—तत्र [illegible] है। इस तत्र का [illegible] निर्मिति [illegible] एक दूरी का भी व्यञ्जना करता है मानसिक [illegible] विच्छिन्नता और विरुद्धधर्मिता। [illegible] हैं। तत्रास्तित्व में [illegible] स्वास्तित्व [illegible] तत्रास्तित्व [illegible] स्वास्तित्व [illegible] है

---

* यास्पर्स ने तत्र [illegible] का निरूपण [illegible] किया है। जर्मन भाषा के Dasein [illegible] है। [illegible] है।

या स्वास्तित्व वह है जो तत्वास्तित्व नहीं है । इस वर्गित धारणा को सरल भाषा में हम यों कह सकते हैं । तत्वास्तित्व वह अस्तित्व है जो दिया गया है अर्थात् जो प्रदत्त है जिसका निर्माण मनुष्य की चेतना नहीं करती किन्तु जिसका अनुभव या भोग उसके द्वारा होता है । यह अनुभवगम्य (empirical) अस्तित्व है । अपनी सुविधा के लिए हम इसे तीन रूपों में समझ सकते हैं । इस अस्तित्व जगत् का एक रूप भौतिक अथवा प्राकृतिक (physical or natural world) है जो ठोस है किन्तु परिवर्तन और परिवर्तन में ठोस । यह अस्तित्व व्यापार के तथा स्वयं के भौतिक नियमों अथवा प्राकृतिक प्रक्रिया-कार्यकारण परम्परा से पूर्णतः बद्ध है । कुछ ज्ञात अथवा अज्ञात नियम हैं जो इसकी स्थिति गति और प्रवृत्ति के लिए उत्तरदायी हैं । इसे हम प्रकार से मनुष्य का भौतिक परिवेश कह सकते हैं । व्यक्ति का शारीरिक अस्तित्व सामाजिक परिवेश और मानसिक प्रदाय (psychic given ness) में तत्वास्तित्व का दूसरा प्रकार परिकल्पित किया जा सकता है । मनुष्य किसी विशेष देश विशेष समाज विशेष परिवार और विशेष राष्ट्र में जन्म लेता है । उसे एक विशेष आकृति वाला शरीर प्राप्त होता है । इस शरीर से सम्बद्ध अनेक शारीरिक और मानसिक तत्त्व (psychic elements) उसे अनायास और अनिच्छित रूप में ग्रहण करने पड़ते हैं । वह इन सब वस्तुओं का साक्षी होता है । माँ बाप देश और स्वभाव का चुनाव करने की स्वतन्त्रता उसकी इस अवस्था में नहीं है । यह जन्मजात अस्तित्व है । ये सब के सब दत्त हैं । अतः तत्वास्तित्व हैं ।

इस तरह से मनुष्य भी शरीर रूप होने के कारण एक प्रकार से तत्वास्तित्व है । वह तत्वास्तित्व में रहता है इसका अन्य वस्तुओं से सम्बद्ध होना है और उन पर आश्रित भी है । फिर भी वह उनमें बद्ध नहीं है । उसमें कुछ ऐसा है जो इन सबका अतिक्रम करता है और अपनी स्वतन्त्र सत्ता का निर्माण करता है । सार्त्र इसे आत्मा (self) या आत्म-चेतना कहता है । इसका प्रमुख धर्म है स्वतन्त्रता । इस स्वतन्त्रता का मतलब तत्वास्तित्व के कार्य-कारण के क्रम को भंग करना नहीं है बल्कि इस कार्य-कारण शृंखला में रहते हुए अर्थात् इसको मानते हुए इस बात का साक्षात्कार करना है कि मैं मानसिक अथवा शारीरिक या भौतिक कार्य-कारण में होते हुए भी इसका अतिक्रमण कर सकता हूँ । मैं केवल कार्य कारण की शृंखला की कड़ी नहीं हूँ । दूसरे शब्दों में

परिवर्तित हो रहा है। इसलिए आज के व्यक्ति की [illegible] का खतरा है। वह समूहगत व्यवस्था में अपना व्यक्ति-अस्तित्व कैसे बनाये रखे व मनुष्य कैसे रहे? यही आज का सबसे बड़ा प्रश्न है। औद्योगिक और तकनीकी उन्नति, राजनीतिक दबाव और जीवन में बढ़ती हुई वस्तु अभिमुखता ने अमानवीकरण (dehumanization) और [illegible] को उत्पन्न कर दिया है। ये राक्षस मनुष्य के एकान्त अस्तित्व को जबड़ों में दबाये हुए हैं। यास्पर्स का समाधान है कि प्रत्येक मनुष्य अपने ऐतिहासिक सत्त्व–आत्मा–की रक्षा कर उसे स्वतन्त्रता में प्रतिष्ठित करे। अपने इस समाधान में उसने पूरे दर्शन की परम्परा को सूक्ष्म रूप में समाहित कर लिया है। और इसे एक नया रूप दिया है।

दर्शन के क्षेत्र में यास्पर्स इस धारणा से आगे बढ़ता है कि एक प्रत्यक्ष बाह्य विश्व है जिसमें चिन्तन स्थित [illegible] जाता है और कार्य करता है। यह विश्व [illegible] वस्तुओं द्वारा निर्मित है। ये वस्तुएँ व्यक्ति के ज्ञाता को अनुशासित करती हैं। यह विज्ञान का विश्व है। यह वस्तुरूप है क्योंकि यह बाह्य अथवा अनुभवगम्य है और इसका सम्प्रेषण के लिए विचारात्मक प्रत्ययभूत प्रतिनिधि प्राप्त किया जा सकता है। अर्थात् इसका वस्तुपरक ज्ञान अथवा विज्ञान प्राप्त किया जा सकता है जो सब लोगों का बौद्धिक स्तर पर ग्राह्य एवं स्वीकार्य हो सकता है। विज्ञान इस प्रकार बाह्यगम्य विश्व और मानवीय बोधात्मकता में एक विशेष प्रकार का सम्बन्ध है।

यास्पर्स अस्तित्व (being) के तीन रूप मानता है— १–तत्रास्तित्व (being there) २–स्वास्तित्व (being oneself) और ३–स्वतःअस्तित्व (being in itself)। तत्रास्तित्व में तत्र के निरूपण में बात स्पष्ट हो जाती है। तत्र अर्थात् [illegible]। पहला तत्रास्तित्व की [illegible] स्थिति है। दूसरा [illegible]। इस तत्र की [illegible] [illegible] [illegible] है [illegible] विच्छिन्नता और विरुद्धधर्मिता। इस [illegible]। तत्रास्तित्व में [illegible] के लिए स्वास्तित्व का [illegible]। [illegible] तत्रास्तित्व [illegible] स्वास्तित्व [illegible] है

[illegible] का निरूपण [illegible] किया है। [illegible] De cin
[illegible] है। [illegible] है।

या तथ्यास्तित्व कहते हैं या तथ्यास्तित्व नहीं है। इस कठिन धारणा की सरल व्याख्या हम यों कर सकते हैं। तथ्यास्तित्व वह अस्तित्व है जो दिया हुआ है अर्थात् जो प्रदत्त है, जिसका निर्माण मनुष्य की चेतना नहीं करती, जिसकी जानकारी अनुभव या भाव उसके द्वारा होता है। यह अनुभवगम्य (empirical) अस्तित्व है। अपनी सुविधा के लिए इसे हम दो रूपों में समझ सकते हैं। इस अस्तित्व जगत् का एक रूप भौतिक अथवा प्राकृतिक (physical or natural world) है, जो ठोस है किन्तु परिवर्तन और परिवर्धन से युक्त है। यह अस्तित्व स्थापित है, यह तथा स्वयं के भौतिक नियमों अथवा प्राकृतिक प्रक्रिया—कार्यकारण परम्परा आदि से पूर्णतः बद्ध है। कुछ ज्ञात अथवा अज्ञात नियम हैं जो इसकी स्थिति, गति और प्रवृत्ति के लिए उत्तरदायी हैं। हम इसे संक्षेप में मनुष्य का भौतिक परिवेश कह सकते हैं। व्यक्ति का शारीरिक अस्तित्व, सामाजिक परिवेश और मानसिक प्रदाय (psychic given ness) में तथ्यास्तित्व का दूसरा प्रकार परिकल्पित किया जा सकता है। मनुष्य किसी विशेष देश, विशेष समाज, विशेष परिवार और विशेष काल में जन्म लेता है। उसे एक विशेष आकृति वाला शरीर प्राप्त होता है। इस शरीर से सम्बद्ध अनेक शारीरिक और मानसिक तत्त्व (psychic elements) उसे अनायास और अनिच्छित रूप में ग्रहण करने पड़ते हैं। वह इन सब वस्तुओं को स्वेच्छा से नहीं लेता। माँ-बाप, रूप और स्वभाव का चुनाव करने की स्वतन्त्रता उसमें इस अवस्था में नहीं है। यह जन्मजात अस्तित्व है। इसके समस्त विवरण हैं। अतः तथ्यास्तित्व है।

इस तरह से मनुष्य भी शरीर रूप होने के कारण एक प्रकार से तथ्यास्तित्व है। वह तथ्यास्तित्व में रहता है, इसका अन्य वस्तुओं से सम्बद्ध होता है और उन पर आश्रित भी है। फिर भी वह उनसे बद्ध नहीं है। उसमें कुछ ऐसा है जो इन सबका अतिक्रमण करता है और अपनी स्वतन्त्र सत्ता का निर्माण करता है। अस्तित्ववादी इसे आत्मा (self) या आत्म चेतना कहता है। इसका प्रमुख धर्म है स्वतन्त्रता। इस स्वतन्त्रता का मतलब तथ्यास्तित्व के कार्य कारण के क्रम को भंग करना नहीं है बल्कि इस कार्य-कारण शृंखला में रहते हुए अर्थात् इसको मानते हुए इस बात का साक्षात्कार करना है कि मैं मानसिक अथवा शारीरिक या भौतिक कार्य कारण में रहते हुए भी इसका अतिक्रमण कर सकता हूँ। मैं केवल कार्य-कारण की शृंखला ही नहीं हूँ। दूसरे शब्दों में

मैं भूत (भौतिक अस्तित्व) अथवा विचार (मानसिक अस्तित्व) नहीं हूँ। तो प्रश्न होता है कि मैं क्या हूँ? इसका उत्तर यास्पर्स के अनुसार यह होगा कि मैं वह हूँ जो मैं चुनता हूँ, वरण करता हूँ। अर्थात् निश्चय करता हूँ। यह चुनाव स्वयं बिना किसी बाह्य आग्रह के स्वतंत्र होना चाहिए। अतः इस चुनाव और इस निश्चय के लिए मैं अर्थात् मनुष्य स्वयं उत्तरदायी है। फलतः तटस्थ न रहते हुए उसके बन्धनों से मुक्त होकर या उनका अतिक्रमण करके स्वतन्त्र वरण करना और तदनुकूल उत्तरदायित्व का वहन करना स्वास्तित्व (existenz) का धर्म है।

स्वयंनास्तित्व (being in itself) की धारणा कुछ अधिक सूक्ष्म है। विषय (object) और विषयी (subject) के द्वैत से स्वतन्त्र और अतीत सिद्ध है। यह वस्तुतः एक तत्त्व है जिसका वास्तव स्वतःअस्तित्व रहता है। यह अलग भिन्न नहीं है। यह द्वैत का समाहार है। भारतीय परम्परा में इसके लिए ब्रह्म का प्रयोग कर सकते हैं यह निरपेक्षमात्र है। इसमें सब विरोध समाहित है। इसकी अनुभूति स्वास्तित्व प्राप्त करके ही हो सकती है। इसकी बौद्धिक धारणा (concept) नहीं बनाई जा सकती, इसका अनुभव किया जा सकता है। स्वास्तित्व की प्राप्ति के पश्चात् मनुष्य स्वतःअस्तित्व के द्वार का अनुभव करता है। यह एक मौन भाषा है जो पहेलियों में बोलती है। इन पहेलियों [illegible]
[illegible]

फलत यह अति गतिविधि अस्पष्ट और आत्मपरक (subjective) बन जाता है।*

•

मनुष्य चरम सत्य (absolute reality) की प्राप्ति करना चाहता है जिससे कि उसके जीवन की भंगुरता, परिवर्तनशीलता, अस्थिरता, संघर्ष आदि अनुपस्थित हो जायँ और एक शान्ति और आनन्दानुभूति उसे प्राप्त हो। इस चरम सत्य की प्राप्ति का एक तरीका विज्ञान है। विज्ञान वस्तुपरक यथार्थ का अध्ययन करता है और विज्ञान प्रभावित दृष्टि अनुभवगम्य जगत् को ही सत्य का आधार मानकर समस्त मनुष्य व्यापार अथवा प्रकृति का वस्तुपरक नियमबद्ध यथार्थ खोजना चाहती है। यद्यपि प्राचीन दार्शनिकों की तरह विचार का अस्वीकार नहीं करता किन्तु उसको समभाग बताता है। विज्ञान अनुभवगम्य जगत् का अध्ययन सफलता से कर सकता है अर्थात् वह तत्त्वास्तित्व का आंशिक वस्तुपरक सत्य (objective reality) प्राप्त कर सकता है। वह वस्तु की समग्रता को नहीं पकड़ सकता। क्योंकि विज्ञान बाह्य अस्तित्व (वस्तु) से अध्ययन शुरू करता है और तज्जन्य निष्कर्षों के आधार पर सामान्यीकरण (generalisation) और सार्वभौमीकरण (universalisation) की प्रक्रिया को अपनाता। फलतः अस्तित्व का आन्तरिक पक्ष (चेतना शक्ति) का इस दृष्टि से अध्ययन अपूर्ण रहता है। इसके अतिरिक्त विज्ञान की नियमन पद्धति सम्भव प्राय (probable) तक ही पहुंच पाती है। अतः विज्ञान के निष्कर्ष अनेक दृष्टियों से अनिश्चित ही होंगे। इन निष्कर्षों के आधार पर सम्पूर्ण विश्व का कोई सुसंगतियुक्त रूप नहीं बताया जा सकता। क्योंकि विज्ञान की विभिन्न शाखाएँ खण्ड सत्यों की उपलब्धि करती हैं। मानवीय जीवन सम्बन्धी विज्ञान शाखाएँ तो वर्णन मात्र हैं और अपूर्ण हैं। अतएव मानव-जीवन की क्रियमाण सत्ता (active existence) के लिए कोई स्थान नहीं है। इस तरह मानव जीवन सम्बन्धी विज्ञान कभी भी पूर्णतः मानव अस्तित्व का वस्तुपरक यथार्थ (objective reality) नहीं पकड़ सकता। विज्ञान

---

* तत्त्वास्तित्व, स्वास्तित्व और स्वतन्त्र अस्तित्व का विवेचन करते समय अनेक योग भारतीय दर्शन के जगत, आत्मा और परमात्मा के प्रत्यय मन में जागृत होते हैं। किन्तु इनमें सूक्ष्म अन्तर है जिसका विश्लेषण [illegible] विचार और सामर्थ्य का अभाव हो जाता है।

अतिक्रमी चेतना को प्रयुक्त विषय बनाकर अध्ययन करना चाहता है। वह प्रयोगशाला में कस कर इसका सार या सूत्र (formula) निकालना चाहता है। यह काफी साहसपूर्ण आकांक्षा है जो सम्भव आशा ही रहेगा।

विज्ञान एक स्तर की सार्वभौमता (universality) अवश्य प्राप्त करता है पर वह सृष्टि की एकता और पूर्णता नहीं पा सकता। वह अनुभव जगत तक सीमित है। इसलिए उसे वहीं तक सीमित रह कर दार्शनिक दृष्टि में कार्य करना चाहिए। स्पष्ट है कि विज्ञान यदि अपनी सीमाओं को स्वीकार कर लेता है तो वह दर्शनाभिमुख हो जाएगा। दर्शन और विज्ञान में जो व्यक्त विरोध है वह नष्ट हो जायेगा। और इस प्रकार विज्ञान दर्शन के लिए एक आवश्यक आधार का काम करेगा। चूंकि यास्पर्स विज्ञान के विषय (object) (वस्तु लोक का) अस्तित्व मानता है इसलिए वह वैज्ञानिक तथ्यों और आविष्कारों को उनके सीमित महत्व के साथ स्वीकार करता है। उसके अनुसार दर्शन विज्ञान से शुरू होता है। फलतः विज्ञान के बिना इसका काम नहीं चल सकता। क्योंकि दर्शन का सम्बन्ध भी उसी जगत से है जो विज्ञान का कार्य क्षेत्र है। दार्शनिक को भी तथ्यास्तित्व की सीमा का अतिक्रमण करना है। अतः उसे जानना है और तत्पश्चात् इस जानकारी को समझते हुए उस तथ्यास्तित्व और स्वतःअस्तित्व का आगे प्रयोग करना है। यास्पर्स विज्ञान की स्वीकृति द्वारा दर्शन की परम्परागत विषय विधियों का समाधान कर देता है। कीर्केगार्द के समान वह विज्ञान का तिरस्कार नहीं करता और विषयों को ही सर्वप्रमुख नहीं मानता है अर्थात् परम्परागत प्रत्ययवाद (idealism) का उसे अस्वीकार है। दूसरी तरफ वह विज्ञान जनित प्रकृतिवाद (naturalism) और वस्तुवाद (positivism) का भी विरोध करता है। क्योंकि उनमें आत्मा या चेतना का सम्यक् अध्ययन न होकर उसे विकृत (distort) किया जाता है। इस तरह वह दोनों में एक सन्तुलन स्थापित करता है।

उसकी चेतना के प्रति प्रकट होता है स्वास्तित्व है। यहां उसे नियमबद्धता के स्थान पर स्वतन्त्रता प्राप्त होती है वह पाता है कि उसे प्रतिक्षण चुनाव करना पड़ता है जीवन की अनवरत विभिन्न परिस्थितियों में उसे अपनी राय बनानी पड़ती है और तदनुकूल कार्यरत होना पड़ता है। इस अवसरों पर मनुष्य 'कुछ नहीं' है किन्तु वह कुछ हो सकता है और उसे बनना चाहिए यह अनुभूति करता है। यह बनने का निश्चय भी एक बार नहीं होता प्रत्येक क्षण बदलती परिस्थितियों के सन्दर्भ में इसका पुनर्निर्माण किया जाता है। इस तरह चेतना इस कार्य में निरन्तर गतिशील और उत्थान करती हुई रहती है। अर्थात् यह किसी परिस्थिति और निश्चय में बद्ध नहीं रहती। यह पूर्णतः स्वतन्त्र अर्थात् अनात्म है। क्योंकि स्वास्तित्व की चेतना मूल रूप में पूर्ण स्वतन्त्रता और अनात्मता की चेतना ही है। इस चेतना के जाग्रत होने पर व्यक्ति को सबसे पहली अनुभूति यह होती है कि मैं केवल शरीर (प्रकृति आदि) नागरिक (राष्ट्र समाज आदि) क्रिया (अनेक विध विधिनिषेधात्मक कर्तव्य आदि) और चरित्र (character) ही नहीं हूं। मैं स्वतन्त्र हूं इसके सिवा कुछ नहीं हूं। जब तक यह अनुभूति नहीं होती तब तक व्यक्ति तत्रास्तित्व ही रहता है। यह स्वतन्त्रताबोध आतंक (anguish) और आह्लाद (thrill) उत्पन्न करता है। क्योंकि इससे उसके व्यक्तित्व का ठोस आधार तत्रास्तित्व (being there) पीछे छूट जाता है अर्थात् व्यक्तित्व के सम्मुख एक शून्य सा आकर खड़ा हो जाता है। उसे लगता है कि यह स्व इतना रिक्त है और यह भी उसके सार (essence) की चेतना है।

जब व्यक्ति इस चेतना के द्वारा निर्णय करता है और प्रतिबद्ध होता है तो उसका यह चुनाव कार्य पूर्ण तरह से अस्तित्वगत और निरपेक्ष होता है। इस चुनाव का कोई भी मनोवैज्ञानिक नैतिक अथवा वैचारिक (Ideal) कारण नहीं ढूंढा जा सकता। यह चुनाव पूर्णतः स्वतन्त्र और किसी अन्य आधार के बिना होता है। इसलिए काम्यू इस स्वयं को स्वयं से प्रतिभूत मानता है। स्पष्ट है कि काम्यू इस चेतना व्यापार को–देश काल जाति परिवार मनोवैज्ञानिक तत्त्व–इन सबसे मुक्त मानता है। वह स्वीकारता है कि इन सबका चुनाव (choice) व्यक्ति नहीं कर सकता। फिर भी वह इनको स्वीकारने या अस्वीकारने में स्वतन्त्र चुनाव कर सकता है। इसका अर्थ यह है कि वह इनको चेतना की बाधाओं या सीमाओं के रूप में मानता है। चेतना के कार्य का इनसे संघर्ष होना अवश्यम्भावी है। चेतन

निराशा भी सुनिश्चित है। पर यास्पर्स निराश होकर बैठ जाने अथवा नियतिवादी या भाग्यवादी होने के पक्ष में नहीं है। गंभीर निराशा में ही उसके अनुसार स्वतन्त्रास्तित्व में भी उत्कर्ष होता है। क्योंकि निराशा की स्थिति में ही व्यक्ति एकांत और आत्मनिर्भर होता है अर्थात् स्वतंत्र होता है। इस तरह निराशा स्वास्तित्व प्राप्त व्यक्ति की चेतना को बाधती नहीं, केवल छूती है और उसकी स्वतंत्र उड़ान के नीचे रह पीछे छूट जाती है।

इस निराशा से सम्बद्ध वे परिस्थितियां हैं जिन्हें यास्पर्स सीमा परिस्थितियां (limit situations) कहता है। प्रत्येक व्यक्ति के तथास्तित्वी परिवेश में उसकी स्वतंत्रता को सीमित करने वाली कुछ सीमा परिस्थितियां अनिवार्यतः होती हैं, जैसे मृत्यु, संघर्ष, पाप, [illegible] पीड़ा आदि। इनसे असुरक्षा, भय, निराशा आदि अनेक स्वतंत्रताबाधक भाव उत्पन्न होते हैं। इनसे पलायन करना या इन्हें ही चरम सत्य अथवा अंतिम सीमा मान लेना अप्रामाणिकता है, [illegible] या भाग्यवाद है। वस्तुतः ये परिस्थितियां [illegible] वे सीमारेखा हैं जहां पर स्वतन्त्रास्तित्व में भी उत्कर्ष होता है। अतः यह आवश्यक है कि इनसे पलायन न कर इन्हें समाहृत किया जाय, इन्हें जीवन का अंग मानकर आत्मसात् किया जाय। सबसे भयानक परिस्थिति मृत्यु है। मृत्यु और जीवन में विरोध मानना, उनका परस्पर संघर्ष स्वीकारना तथास्तित्व के क्षेत्र की वस्तु है। क्योंकि उसी क्षेत्र में—काल रूप में—एक क्रिया की समाप्ति मृत्यु द्वारा होता हुआ परिलक्षित होता है। स्वास्तित्व के क्षेत्र [illegible] में इसमें विरोध नहीं होता बल्कि स्वास्तित्व की स्वाभाविक परिणति मृत्यु बन जाती है। मृत्यु के [illegible] शरीर मरता है किन्तु चेतना की स्वतन्त्रता नहीं मरती। उसकी स्थिति बनी रहती है। इससे यह अर्थ नहीं निकालना चाहिए कि यास्पर्स किसी [illegible] को स्वीकार करता है या चेतना के परम्परागत शाश्वत अमर रूप में विश्वास करता है। उसका मन्तव्य कुछ सूक्ष्म है और वह इतना ही है कि चेतना [illegible] [illegible] कुछ विषय ऐसे हैं जो [illegible] हैं। उनमें कुछ [illegible] है जो इस मृत्यु की सीमा रेखा का अतिक्रमण कर जाता है और स्वतन्त्रास्तित्व में [illegible] हो जाता है।

मनुष्य मरता है अर्थात् वह मर्त्य, अपूर्ण और सीमित (finite) है। इस [illegible] के कारण [illegible] उसे सामाजिक, आर्थिक या राजनीतिक संघर्षों में भाग लेना पड़ता है, [illegible] करना पड़ता है। यह सामाजिक स्तर का

का चुनाव अपराधीभाव (guilt) उत्पन्न करता है । क्योंकि चुनाव करते ही वह बहुत-सी अन्य बातों, अन्य सम्बन्धों, अन्य रास्तों और अन्य विकल्पों से अलग (exclusion) होता है । इस तरह हर सम्बन्ध (relation) का चुनाव किसी अन्य सम्बन्ध की सम्भावना के मूल्य पर होता है । 'मैं ऐसा भी कर सकता था' अथवा 'मैं ऐसा क्यों नहीं कर सका' के तनाव से अपराध भावना उपजती है । यह मनुष्य की स्वतन्त्रता के लिए दूसरी सीमा परिस्थिति है जो चेतना के स्वतन्त्र कार्य को बाधित करती है । यास्पर्स इस अपराध भावना को अनिवार्य मानता है किन्तु इसे अनिवार्य बन्धन नहीं स्वीकार करता । व्यक्ति को अपनी प्रामाणिकता अर्थात् स्वतन्त्रता की रक्षा के लिए इस अपराध का उत्तरदायित्व वहन करना चाहिए । साधारणतः लोग दूसरों को या परिस्थितियों को दोष देकर इस अपराध से मुक्त होना चाहते हैं । यह अप्रामाणिक जीवन है । क्योंकि स्वयं द्वारा की बुराई या अपराध को दूसरों के मत्थे मढ़ते ही नहीं उसके निराकरण की जिम्मेदारी भी उन्हीं की मानते हैं । अपराध का उत्तरदायित्व [illegible]त हो अपराध निवारण का कर्त्तव्य भी उसी व्यक्ति का हो जाता है । इस प्रकार स्वतन्त्र-कार्य के लिए अपराध बाधक नहीं उद्दीपक है ।

मनुष्य की दूसरी सीमा परिस्थिति देश काल गत है जिसे इतिहास (history) कहा जाता है । यास्पर्स के अनुसार स्वास्तित्व अथवा चेतना इतिहासातीत नहीं है । चूँकि मनुष्य का अस्तित्व सार्वभौम और सार्वकालिक (universal) नहीं है इसलिए वह इतिहासगत या इतिहासबद्ध है । यह इतिहासगतता भी स्वतन्त्रता प्राप्ति के लिए अपराध-भावना आदि के समान आवश्यक है । मनुष्य पूर्णतः तथास्तित्व में स्थित है अतः वह इतिहास निरपेक्ष नहीं हो सकता । एक विशेष देश और एक विशेष काल में जनमता है और एक विशेष देश और एक विशेष काल में वह मर जाता है । वह इस विशेष (अर्थात् इतिहास) में मुक्त नहीं होता किन्तु वह इस विशेष में बद्ध भी नहीं होता बल्कि इसे । परिनिष्ठित मनुष्य [illegible] पात्र और सर्जना के द्वारा इसका निर्माण करता है । इस इतिहास की परिसीमा में तथास्तित्वगत समाज, राज्य, धर्म, व्यक्तिगत सम्बन्ध आदि सब कुछ समाहित है । राज्य के प्रति यास्पर्स के दृष्टिकोण में इस बात को समझा जा सकता है । राज्य व्यक्ति की स्वतन्त्रता के लिए आधारभूत है और साथ ही साथ यह उसकी स्वतन्त्रता का बाधक भी है । राज्य के बन्धन का अतिक्रमण करना साधारण व्यक्ति के लिए बड़ा कठिन कार्य है । क्योंकि राज्य व्यक्तिगत

प्रभुता और शक्ति न होकर व्यक्तियों की सामूहिक इच्छा का प्रतिनिधि होता है। इसके महान् आदर्श होते हैं और इन आदर्शों के अनुरूप व्यक्ति के लिए कर्त्तव्यों का विधान भी यह करता है। अतः व्यक्ति आसानी से इस आदर्श कर्त्तव्य की मर्यादा या मानसिक सीमा (limit) से परे नहीं रह सकता। फिर भी व्यक्ति को इसमें रहकर ही इसके उद्देश्यों, आदर्शों और नीतियों की आलोचना करना चाहिए और तत्सम्बद्ध सुझाव देना चाहिए। राज्य का सत्य पूर्व प्राप्त या सर्वोपरि नहीं होता। उस सत्य का निर्माण कहीं न कहीं ज्ञात या अज्ञात रूप से व्यक्ति चेतना ही करती है। इसलिए राज्य के कानून व्यक्तिगत निर्णय को प्रबुद्ध कर सकते हैं उसकी न्याय संगति (justification) नहीं दे सकते और इसी प्रकार वे व्यक्ति के स्वतन्त्र कार्यों का कोई मूल्य या अर्थ न प्रदान करते बल्कि मूल्य और अर्थ की निर्मिति के लिए उद्दीपन मात्र और अवसर बन सकते हैं। फलतः राज्य व्यक्ति के लिए अपनी स्वतन्त्रता प्राप्ति के लिए आवश्यक है। राज्य इस स्वामित्व (स्वतन्त्र) सम्पन्न व्यक्ति के निर्णयों से अपना मर्यादा पाता है। इस तरह राज्य और व्यक्ति में उत्पन्न तनाव सम्भव रहता है। इसलिए यास्पर्स राजनीति में भाग लेना स्वामित्व के लिए आवश्यक मानता है। आगतन की तानाशाही या समूहवादी राज्य व्यवस्थाओं में तो यह काम अनिवार्य है।

ये राज्य व्यवस्थाएं व्यक्ति की ऐतिहासिकता के माध्यम हैं। मनुष्य इस प्रकार ऐतिहासिकता में जीवन सम्बन्धी अर्थ या मूल्य प्राप्त नहीं करता वरन् अपने कार्यों का मूल्य ऐतिहासिकता में स्थापित करता है। इस तरह वह मानव जीवन को निरन्तर गति में सम्पादित करता है। स्पष्ट है यास्पर्स का यह ऐतिहासिक वस्तुपरक घटना वर्णन नहीं है और न वह नियति और भाग्य के समान नियतिवादी (deterministic) है। ऐतिहासिक वह गतिशील नश्वर तत्व है जो व्यक्ति चेतना के लिए अवसर प्रदान करता है और उस चेतना के कार्यों द्वारा प्रभावित और परिवर्तित होता रहता है। इस प्रकार वह स्वामित्व का महत्त्व सिद्ध करता है।

निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि यास्पर्स के स्वामित्व के स्तर में सामाजिक परिस्थितियों इत्यादि का न समाप्ति है। इसमें इन सबके लिए स्थान है किन्तु व्यक्ति का [illegible] नहीं है। [illegible] व्यक्तिनिर्माण या पुनर्गठन का महत्त्वपूर्ण होता [illegible]। [illegible] रहस्यवादियों (mystics) के समान संसार और

इतिहास (तथ्यिकत्व) निरपेक्ष निवृत्तिपरक अंतमुखता की सचाई में विश्वास करता है और न वस्तुवादी दार्शनिकों की पूर्ण प्रवृत्ति या वस्तुवाद (position) में। वह इन दोनों को अस्तित्ववादी रूप में समन्वित करता है।

•

दूसरे से संबंध विधान या सम्प्रेषण समस्या को सब अस्तित्ववादियों की प्रमुख समस्या रही है। यह समस्या वैसे तो काफी पुरानी है पर आधुनिक काल में वैज्ञानिक, यांत्रिक सद्धान्तिक और औद्योगिक उन्नति के कारण यह और भी विकराल हो गई है। व्यक्ति अधिक से अधिक संकीर्ण और वैयक्तिवाद की खोल में स्वबद्ध (shut up) होता जा रहा है। यास्पर्स भी इस समस्या की गंभीरता से विवेचन करता है। उसके अनुसार स्वास्तित्व प्राप्त व्यक्ति का अन्य स्वास्तित्व प्राप्त व्यक्तियों से सम्प्रेषण होना अनिवार्य है। सम्प्रेषण (communication) को वह विशेष अर्थ में प्रयुक्त करता है। इस सम्प्रेषण में दोनों की (स्वयं की और दूसरे की) अद्वितीयता और स्वतंत्रता अप्रभावित रहती है इनकी परस्पर स्वीकृति आवश्यक है। इसी आधार पर दोनों में सम्बन्ध विधान होना चाहिए। यह कैसे संभव हो सकता है? यास्पर्स का उत्तर है मैं यह अभिलाषा करता हूँ प्रत्येक दूसरा आदमी जो कुछ होना चाहता है—वैसे ही वह भी कुछ पूर्ण ईमानदारी और सच्चाई के साथ होगा। स्पष्ट है कि यहां पराधिकार नहीं स्वाधिकार और अन्याधिकार दोनों की पहचान और स्वीकरण आवश्यक है। अतः सम्प्रेषण के लिए रूढ़िनिष्ठ रिवाज धारणाएं संस्कार मान्यता धर्म आदि के बन्धनों से मुक्ति होनी चाहिए और व्यक्ति को दूसरे के सामने अपने सच्चे स्व रूप में आना चाहिए। व्यक्ति में यह खुलापन (openness) होना सम्प्रेषण के लिए आधारभूत है। इस तरह सम्प्रेषण समाज में सहयोग नहीं है बल्कि एकाकी (singularity) प्रामाणिकता की पहचान और स्वीकृति है। इस तरह यह सम्प्रेषण संघर्ष का रूप ले सकता है पर यह प्रेमपूर्ण संघर्ष (loving struggle) होगा। क्योंकि इस संघर्ष में खुलापन होने के कारण अन्य तामसिक वृत्तियां (स्वार्थ आदि) नहीं आ सकेंगी। यह सम्प्रेषण प्रत्येक व्यक्ति के स्वास्तित्व को एक नया और गंभीर रूप देता रहेगा। क्योंकि दूसरे का स्वास्तित्व इसके लिए संशोधक (corrective) सिद्ध होगा। यह सम्प्रेषण में व मैं—तू के परिवृत्त में क्रियाशील रहता

है। बुद्धि से सम्प्रेषण नहीं हो सकता। क्योंकि बुद्धि मैं की सत्ता से प्रारम्भ होती है और तू को वस्तुरूप (object) दे देता है। उसकी चेतन सत्ता की अद्वितीयता को अस्वीकृत करने का प्रयास करती है या उसे विकृत (distort) करती है। केवल प्रेम ही जो विस्तार की परम चेतना या भूमा है– इस सम्प्रेषण का आधार हो सकता है। स्पष्ट है कि यह प्रेम सवमुनभ सवेदनात्मक या भावकतापूर्ण नहीं है बल्कि उदारतापूर्ण सम्भार है।



अब स्वतन्त्रास्तित्व (being in itself) की ओर ध्यान दें। जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है स्वतन्त्रास्तित्व की परिभाषा नहीं दी जा सकती उसे जाना नहीं जा सकता। न तो यह वस्तुनिष्ठ ज्ञान की पकड़ में आता है और न आत्मनिष्ठ मुझे भी उसे छू सकता है। तो फिर उसकी सत्ता का प्रमाण क्या है ? यास्पर्स के अनुसार जगत् की अपूर्णता सीमा और क्षण भंगुरता ही स्वतन्त्रास्तित्व (पूर्णता असीमता और शाश्वतता) का प्रमाण है। हम इसी जगत् के माध्यम से उसकी खोज करते हैं। उसे पाना या पकड़ने की चेष्टा निरर्थक है।

यास्पर्स स्वतन्त्रास्तित्व की सत्ता की सिद्धि नेति नेति ढंग से करता है। वस्तुनिष्ठ दृष्टि से हम प्रत्येक वस्तु की सीमा कारण गुणमात्रा आदि का विश्लेषण करते हैं और अन्त में पाते हैं कि अंतिम सत्ता यह नहीं है। निषेध के माध्यम से हम इन सब प्रमेयों (categories) के पूर्व और अतीत रूप का विचार करते हैं अर्थात् अन्तिम सत्ता (स्वतन्त्रास्तित्व) को मानते हैं। इस प्रकार प्रत्यक्ष वस्तुगत धारणा को स्थापित कर उसको क्रमिक रूप से लक्षित करते हुए हम उसका निषेध करते हैं। परिणामस्वरूप हम स्वतन्त्रास्तित्व की ओर प्राप्त होते हैं। इसका फल यह होता है कि हम तन्त्रास्तित्व (जिसके माध्यम से स्वतन्त्रास्तित्व प्रकट होता है) और स्वतन्त्रास्तित्व में अन्तर स्पष्ट करते जाते हैं। स्पष्ट है कि यह स्वतन्त्रास्तित्व यद्यपि सब सीमित रूपों से अतीत या अनतिक्रमणयुक्त है तो भी यह सीमा स्थितियों के माध्यम से भी मैं जाना या अनुभूत किया जा सकता है। अनुभव की दृष्टि से यह प्राप्त अस्तित्व स्वतन्त्र है जो समस्त अस्तित्व का आधार है। अतः अस्तित्वगत द्वन्द्व प्रसंग और संस्कार विनाश और सर्जक शक्तियों का आधार भी यही है। अतः यह आवश्यक है कि इन्हीं माध्यमों से इसकी खोज की जाय। इन

द्वन्द्व व तनाव को सम्भालने के लिए साहसमयश्रद्धा (courageous faith) या 'दार्शनिक श्रद्धा' की अनिवार्यता है। *

स्वास्तित्व का इससे क्या सम्बन्ध है? स्वास्तित्व प्राप्त व्यक्ति स्वतन्त्र होता है पर आत्मनिर्भर नहीं होता। वह तत्रास्तित्व (सीमित वस्तु अर्थात् जगत् पर) आश्रित है क्योंकि उसी के माध्यम से उसका स्वास्तित्व जागृत होता है। दूसरी ओर वह स्वतन्त्रास्तित्व पर भी आश्रित है क्योंकि उसकी स्वतन्त्रता का आधार और निकष स्वतन्त्रास्तित्व है। इसका यह अर्थ हुआ कि व्यक्ति (स्वास्तित्व) जगत् (तत्रास्तित्व) के माध्यम से ही अन्तिम सत्ता (स्वतन्त्रास्तित्व) से सम्बद्ध हो सकता है। यह जगत् माध्यम कैसे बनता है? यहां रहस्यवादियों के सर्वात्मवाद और वैज्ञानिक वस्तुवाद से बचने और अपने सिद्धान्त को शुद्ध दार्शनिक रूप देने के लिए यास्पर्स बिन्दु या वृत्त (cipher) का उदाहरण देता है। जगत् या तत्रास्तित्व या तत्सम्बद्ध तदाश्रित या तदन्तर सीमा घटनाएं स्वतन्त्र चेतना (स्वास्तित्व) के लिए बिन्दुवत् हैं। एक तरफ घटना रूप में स्थूल हैं किन्तु दूसरी तरह प्रतीकात्मक रूप में घटनातीत स्वतन्त्रास्तित्व की ओर संकेत कर रहे होते हैं। व्यक्ति को इन बिन्दुओं का अर्थ लगाना होता है। यह अर्थ बुद्धिगत वस्तुनिष्ठता से नहीं लग सकता क्योंकि बिन्दु का प्रतीक बुद्धिगम्य नहीं है। बिन्दु सामान्य प्रतीक नहीं है वह स्वतः प्रमाणित है। सामान्य प्रतीक किसी दूसरी सामान्य घटना का द्योतक होता है जिसे अप्रतीकात्मक अर्थात् बौद्धिक शक्ति से पकड़ा जा सकता है। इसलिए बिन्दु को विज्ञान ज्ञान से नहीं समझा जा सकता। इसका अर्थ केवल स्वतन्त्र निर्णय के माध्यम से ही खोजा जा सकता है। उसमें निहित स्वतन्त्रास्तित्व के सन्देश को सजीव सहजानुभूति (concrete intution) से ही समझा जा सकता है। • ये बिन्दु सब व्यक्तियों के

---

* श्रद्धा का साहसमय या 'दार्शनिक' विशेषण भावुकता और पूर्वाग्रह की अन्धता की रिक्तता का भार वहन करते हैं। द्वन्द्व को सम्भालने के लिए निराशा की स्थिति से गुजरना पड़ता है जो सामान्य श्रद्धा को नष्ट कर सकता है।

• I live with the ciphers I donot understand them but I steep myself in them All their truth lies in the concrete intution which fills them in a manner each time historical

लिए अपना अर्थ देते हैं अर्थात् इनका यह किंचित अर्थ होता है। इसके अति-रिक्त बिन्दु चूंकि इतिहासक्रम में घटित होते हैं अतः कोई एक बिन्दु अंतिम नहीं होता। फलतः एक बिन्दु का अर्थ उसी बिन्दु तक सीमित है। यास्पर्स के इस बिन्दु की परिभाषा में प्रकृति, व्यापार, इतिहासगणना, व्यक्ति, अस्तित्व आदि सब कुछ समाहित है। मेरा जीवन मेरा सबसे बड़ा बिन्दु है। जिसका अर्थ मुझे खोजना है—यही स्वतन्त्रता है। मेरी सफलताएं, निराशाएं, कार्य, निर्णय सब कुछ बिन्दु हैं जिनमें मैं स्वतन्त्रास्तित्व के अर्थ को छूता हूं, अनुभव करता हूं। किन्तु यह अर्थ वस्तुगत (positive) है फलतः स्थिर है। अतः अंतिम नहीं है।

(इस बिन्दु के द्वारा यास्पर्स क्या कहना चाहता है? मेरा अपना अनुमान है कि वह शायद भौतिक, मानसिक, सामाजिक आदि अनेक विध घटनाओं की वस्तुनिष्ठ जानकारी की सम्पूर्णता की असम्भावना बताना है और फलतः उस सम्पूर्णता की प्राप्ति सहजानुभूति के द्वारा वह मानता है। सहजानुभूति चूंकि व्यक्तिगत अनुभूति होती है अतः उसका सार्वभौम बुद्धिग्राह्य अस्तित्व असम्भव है। इसलिए यह सम्पूर्णता व्यक्तिगत ही होती है। घटनाओं के अम-योग विभिन्नता के कारण ये सहजानुभूतियां भी अनेक और असीम (सम्पूर्णता) की सीमित तात्कालिक झांकी मात्र होती हैं।)

अन्तिम बिन्दु यास्पर्स के अनुसार पूर्णतः नकारात्मक (negativo) है। अन्ततः जलयान विस्फोट है। * सम्भवतः यह ऐसी स्थिति है जहां कोई बिन्दु नहीं रह जाता और इसी के सम्भ्रम में और मान में सब बिन्दु पराजित किए जाते हैं। यह जलयान विस्फोट पूर्णतः निराधार है। अतिक्रमी अतिम-सत्ता (tran cendence) की प्राप्ति के सब परिगम (approaches) टूट जाते हैं। इतिहास के बुद्धिगम्य रूप को निर्मित करने के सब प्रयत्न घटनाओं में बिखर जाते हैं। और स्वास्तित्वगत संभावना स्वयं का विरोध हो जाती है। धार्मिक जिज्ञासा भी शान्त और शून्य बन जाता है। यह ऐसी स्थिति है जहां व्यक्ति का अन्तर टूट जाता है और वह पूर्ण हताश और निराशा में डूब जाता है। कोई भी दार्शनिक और धार्मिक सत्ता उसकी सहायता नहीं कर सकता। उसे मानकर कुछ होना चाहिए पर कुछ भी नहीं होना—इस

---

* The ultimate is ship wreck The non being of all that is acce sible to us that non bein which reveals itself in ship-wreck the being of tran cendence

अतीव सत्तात्मक अस्तित्व की अनुभूति में स्वतन्त्रास्तित्व और इसमें अन्तर की अनुभूति जागती है। दूसरे शब्दों में हम स्वतन्त्रास्तित्व या उसकी पूर्णता का अनुभव करते हैं। फलतः हमें प्रतीत होता है कि सब सत्तात्मक वस्तुओं का अनस्तित्व (non being) है जो 'जनयान विस्फार' के क्षण प्रकट (reveal) होता है अतिरेकी सत्ता का अस्तित्व है। इस तरह व्यक्ति को स्वतन्त्रास्तित्व से सम्बद्ध होने के लिए जनयान विस्फार अर्थात् निराशा और दुश्चिन्ता के दौर से गुजरना होता है और साथ ही साथ इस आत्मसत्ता श्रद्धा और आशा की सम्भावना रहती है जब सांसारिक आशाओं का खोखलापन होता है तब उससे मुक्ति पानी होती है, तब व्यक्ति में एक नवीन प्रकार की शक्ति उत्पन्न होती है जिससे हम स्वतन्त्रास्तित्व का अनुभव-समर्थन (affirmation) कर सकते हैं। उसमें स्वतन्त्रास्तित्व है या हम विश्वास से उठता है। (यास्पर्स सार्त्र इस शुद्ध शून्यता की स्थिति की अनुभूति द्वारा शुद्ध सम्पूर्णता की अनुभूति उत्पन्न करना चाहता है। बुद्ध दर्शन में भी ऐसे कुछ की अवस्थिति का आभास मनोविज्ञान-सम्मत है।)

तो क्या व्यक्ति इस 'जनयान विस्फार' की कामना करे? यास्पर्स फ्रायड का मृत्यु कामना सिद्धान्त' का अस्वीकार करता है। व्यक्ति इस विस्फार को टालने का अथक परिश्रम करता है पर इससे संघर्ष करता है और यह पहचानता भी है कि इससे बचा नहीं जा सकता। कामू के समान यास्पर्स भी चाहता है कि व्यक्ति स्वयं जीवन मूल्य प्राप्ति या निरर्थकता विनाशशीलता को जानते हुए भी कार्यरत (engaged) रहे।



ऊपर हमने देखा कि व्यक्ति के सब निर्णय या चुनाव का किस क्षण द्वन्द्व होती है। जनयान विस्फार में न नहीं रहना जीवन का एक भाग है। इस लिए आवश्यक है कि हम यास्पर्स के क्षण सम्बद्ध विचारों को भी जानें।* क्षण सामयिक (temporal) और शाश्वत (eternal) का आन्तर्य विन्दु है। इस भागवत एवं स्वकीयता वर्तमान में जीवन-यापन नहीं समझना चाहिए। क्षण व्यक्ति के स्वतंत्र निर्णय द्वारा शाश्वत सत्य की उपस्थिति से

* इसमें यह भी स्पष्ट होता है कि किस प्रकार साहित्य में व्यक्तियों द्वारा कितना महात्म्य दिया है अर्थात् व्यक्तिगत भावात्मकता पर आश्रित है।

भूत और भविष्य को बांधता है। क्षणगत घटनाओं में शाश्वत अर्थ गर्भित नहीं रहता, वह निश्चित या निर्णित किया जाता है। इसका अर्थ है कि व्यक्ति क्षणगत निर्णय को क्षण-स्थायी मानकर नहीं लेता, बल्कि वह निर्णय शाश्वत और सत्व है, इस रूप में लिया जाता है। ऐसा अर्थ में क्षण भूत (घटना या (temporal) और भविष्य (निर्णय या eternal) को जोड़ता है। इस तरह क्षण वह वर्तमान है जो शाश्वत अर्थवत्ता में अर्जित है (present charged with external significance)। स्पष्ट है कि यह 'क्षण' प्रवहमान काल के सातत्य (continuum) का एक कण है और तत्प्रेरित निर्णय उच्च बिन्दु हैं और एक निरन्तरता का निर्माण करते हैं। फलतः ये एक दूसरे से सम्बद्ध हैं, एक परम्परा में शृंखलित हैं। इस रूप में ये निर्णय दैनिक जीवन के सम्पूर्ण विस्तार को प्रकाशित करते हैं। इस निर्णय प्रकाश के प्रति सजीव कृपाकारी प्रयत्न आवश्यक है। उनका अर्थानुगमन रूढ़ि है। यास्पर्स इस तरह परम्परा को या भूत को त्याज्य नहीं मानता, केवल नवीन अनुभव के रस से उसे अनुप्राणित या संस्कृत करना चाहता है। निष्कर्षतः 'क्षण' एकान्त भोग नहीं है बल्कि वह परम्परा का वह बिन्दु है जो नवीन शाश्वत अर्थ की चेतना में परम्परा का पुनसंस्कार करता है। यह भूत भविष्य विच्छिन्न नहीं, उनका अर्थपूर्ण योग है।



यास्पर्स का दर्शन किसी निश्चित सीमा को मानकर नहीं चलता है। उसमें सब प्रकार की विचार धाराओं का सम्मिश्रण है। उसका दर्शन भी अस्तित्ववादियों के समान सर्वव्यापी (all comprehensive) है। दूसरी विशेषता यह है कि यास्पर्स किसी भी बात को निश्चित नहीं मानता। (यद्यपि अपने समर्थन के प्रति उसने निश्चित रूप से विवेचन किया है।) कोई भी सिद्धान्त या निष्कर्ष उसके लिए अन्तिम नहीं है। इसलिए उसकी आलोचना करते हुए हैनमन (Heinemann) उसे उन्नतशील दार्शनिक (gliding or floating philosopher) की संज्ञा देता है। निश्चितता की प्राप्ति-निश्चित निर्णय या विचार' की प्राच्य-पश्चिमी तार्किक (rational) पद्धति का लक्ष्य है। किन्तु यास्पर्स-ज्ञान में निश्चित मत की अपेक्षा रखना असम्भव है। यास्पर्स विज्ञान की पृष्ठभूमि में शुरू करता है और स्पष्ट कहता है कि ज्ञान का उत्तर प्राप्त करना नहीं, 'खोज' करना है। यह

खोज भी व्यक्तिगत स्तर अर्थात् स्वातन्त्र्य धर्म के आधार पर होता है तथा अनुभूति रूप है। इसलिए इसमें निश्चितता के लिए आवश्यक वस्तुपरक सार्वभौमत्व' एवं सर्वसाधारणत्व' खोजना अस्थानीय है उस वस्तु को खोजना है जिसके बारे में हम जानते हैं कि वह वहाँ नहीं है।

यास्पर्स की प्रमुख समस्याएं सम्प्रेषण और स्वास्तित्व की रक्षा—आज भी वैसी ही हैं। सम्भवतः उनका रूप उग्रतर हो हुआ है। उस समस्या का समाधान भी—(चूंकि वह पूर्णतः अस्तित्ववादी न होकर आध्यात्मिक—(metaphysical) है) भविष्य में कारगर होने की सम्भावना से युक्त है। क्योंकि इसमें धर्म रहस्य विचार समाज विचार, विज्ञान आदि सब को पचा लिया गया है। मेरी दृष्टि में निकट भविष्य में ही यास्पर्स-दर्शन का विकास और प्रचार होना चाहिए, शायद पश्चिम की अपेक्षा पूर्व में इस कार्य के होने की सम्भावना अधिक है।



मार्टिन हेडेगर

(Martin Heidegger)

हेडेगर समकालीन दर्शन का अत्यधिक महत्त्वपूर्ण दार्शनिक है। उसके दर्शन ने साम्यवादी देशों को छोड़कर यूरोप के अधिकांश दार्शनिकों को ही प्रभावित नहीं किया बल्कि लैटिन अमरिका अमेरिका और जापान के विचारकों को भी किया है। उसका यह प्रभाव दर्शन जगत् तक ही सीमित न रहकर धर्मविद्या (theology) और मनोचिकित्सा विज्ञान तक फैला है। पश्चिम में हेडेगर अपने विशिष्ट धातु मूलक भाषा प्रयोग और इन्द्रियविषयवादी अभिगम के कारण अत्यन्त कठिन दुरूह और अन्तर्विरोध युक्त दार्शनिक माना जाता रहा है।

हेडेगर का जन्म जर्मनी में हुआ। उसने प्रारम्भ में टामिस्टिक दर्शन की शिक्षा प्राप्त की। १९२३ में अपने बुद्धिक भाषणों के आधार पर वह मारबर्ग (Marburg) में दर्शन का आचार्य नियुक्त हुआ। १९२९ में अपने गुरु हुस्सरल की सिफारिश से फ्रीबर्ग (Freiburg) में उसी पद पर उसकी नियुक्ति हुई। तब से अध्यापन का कार्य करता रहा है। द्वितीय विश्वयुद्ध में नात्सी भावना के समर्थन के कारण पदाधिकारियों ने उसे विश्वविद्यालय से कुछ समय के लिए हटा दिया गया था।



हेडेगर का भूततत्त्वविद्या (metaphysics) के विषय में अपना विशिष्ट दृष्टिकोण है। भूततत्त्वविद्या भूत का विचार भूत के रूप में ही करती है।

यह विचार प्रतिनिधिक (representational) होता है। भूत से सम्बद्ध वैचारिक प्रतिनिधि भूत यह पूरा करती है। वस्तु की भौतिक अवस्था में आग का किन्तु उस पर आश्रित उसका प्रत्यय (idea) भी हाइडेगर की दृष्टि से वस्तु ही है प्रतिनिधिक रूप में। भूतातीतविद्या की यह प्रतिनिधिक दृष्टि भू (being) में मिलती है। अर्थात् भूत में भू (= होना) इस प्रतिनिधि निर्माण का आधार है। यह भू अस्पष्ट और विचारातीत रहता है इसलिए इसका प्रतिनिधि नहीं निर्मित किया जा सकता। यद्यपि पश्चिमी भूतातीतविद्या ने भू * का अध्ययन किया है और इसके प्रत्यय भी बनाये हैं किन्तु भू का सत्य अब तक आवरणित हो रहा है। प्रत्यय बनाते ही भू भूत बन जाता है फलतः छिप जाता है और असत्य निरूपण में परिवर्तित हो जाता है। हाइडेगर के मत में पूरी पश्चिमी भूतातीतविद्या की परम्परा असत्य का निरूपण और भ्रम ज्ञान का विस्तार करती रही है।

हाइडेगर के अनुसार भूतातीतविद्या आधारतः तत्त्वाश्रित होने के कारण शक्तिरूप भू का प्रतिनिधिक रीति से विचार नहीं कर सकती। वह वस्तु और वस्तुगत प्रत्ययों के मूलाधार (भू) को नहीं पकड़ सकती। इसलिए भूतातीतविद्या को चाहिए कि वह भू का प्रतिनिधि ढूँढने का प्रयत्न तथा तत्सम्बद्ध प्रश्न का समुचित उत्तर दे सकने की अपनी सामर्थ्य का दम्भ छोड़ दे। वह अपने भाव भूत तक सीमित रहे। स्पष्ट है कि यहाँ हाइडेगर भूत में वस्तु और वस्तुगत विचार दोनों को समाहित कर लेता है। इस तरह वह भू से साक्षात्कार के लिए भूतातीतविद्या का अतिक्रमण आवश्यक मानता है। भू का प्रतिनिधि नहीं पाया जा सकता किन्तु उसे पुनस्मृत (recall) और विचार में पुनः जागृत किया जा सकता है। यह कार्य पारम्परिक भूतातीतविद्या में निर्देशित चिन्तन नहीं कर सकता क्योंकि वह तथ्य अर्थात् विषय विषयों के दायरे में ही सीमित रहता है और इस प्रक्रिया में फलतः प्रतिनिधिक है। हाइडेगर के अनुसार इसीलिए विज्ञान सभी विज्ञान भूतातीतविद्या आदि ज्ञान के ये सब भाग अपूर्ण हैं और भू का गलत रूप प्रस्तुत करते हैं और मानव को भू से

• इस भू की विशिष्ट हमारी समझ आगे चर्चित होगा। भूत अर्थात् निश्चित पदार्थरूप अस्तित्व जिसे भू के सन्दर्भ में भूत (beings) कहा गया है। इसका भी सविस्तार विवेचन आगे होगा।

उसके आधार में विच्छिन्न करते रहते हैं। आज के युग में भू की उपेक्षा और मानव की विच्छिन्नता—यान्त्रिक, औद्योगिक और यथार्थवादिता के कारण—अपने उच्चतम शिखर पर पहुंच चुकी है। इसलिए इस भू की पुनस्प्रति या पुनर्जागति मानवीय स्वास्थ्य के लिए अत्यन्त आवश्यक है।

यह भू (being) क्या है ? हडेगर इसका रूप सुकरातपूर्व चिन्तकों—विशेषतः परमिनाइडस (Parmenides) और हेराक्लिटस (Heraclitus)—के आधार पर स्थिर करता है। इन लेखकों में भू का जो स्वरूप है वह स्फुरण और शक्ति का प्राकट्य और प्रकाशित रहने की सामर्थ्य से युक्त है जिसे ग्रीक में प्रकृति (physis) कहा गया है। यह समस्त भूत जगत् (beings) के व्यापार का मूलाधार है किन्तु मात्र भूतगत नहीं है तथा भूत से सीमित या उसके द्वारा समाप्य नहीं है। इसे समझाने के लिए व्याकरण और व्युत्पत्ति का आधार भी लिया गया है। व्याकरण की दृष्टि से जर्मन शब्द (sein=भू) सामान्य (तुमुन्) अपूर्ण (infinitive) क्रिया है अर्थात् कर्त्ता कर्म से मुक्त है और साथ ही साथ कृदन्त भाववाचक संज्ञा (verbal substantive) भी है। इसलिए यह है क्रिया से संयुक्त है। सामान्य होने के कारण इसमें स्वतन्त्रता, अबद्धता और अनिश्चितता है और क्रिया होने से यह बद्ध और निश्चित (determinate) भी होता है। है का सत्त्व होना है भू है। होना अनिश्चित है जबकि है निश्चित। किन्तु इस है में भी अनेकविधता है यह शब्द कुराऊ है सीधा और कठोर एकरूपता इसमें नहीं है। अर्थात् इस है में समाहता है कुछ भी हो जाने की वृत्ति है जिसे व्याकरण की भाषा में विभक्ति विकार (inflection) के रूप में स्वीकार किया गया है। हेडेगर कुछ उदाहरणों के द्वारा यह बात स्पष्ट करता है। आम बातचीत की भाषा में हम इस प्रकार के प्रयोग करते हैं—ईश्वर है पृथ्वी है भाषण कक्ष में है गिलास चांदी का है कुत्ता बाग में है क्रमशः कक्षा में है आदि। इन सबमें है के निश्चित किन्तु भिन्नार्थक रूप हैं। प्रथम — ईश्वर है में ईश्वर वास्तव में विद्यमान है पृथ्वी है में पृथ्वी हमारा अनुभवगम्य रूप में उपस्थित है भाषण कक्ष में है में भाषण कक्ष में होगा गिलास चांदी का है में गिलास चांदी का बना हुआ है कुत्ता बाग में है में कुत्ता बाग में घूम रहा है या दौड़ रहा है क्रमशः कक्षा में है में क्रमशः कक्षा में पढ़ रहा है या पढ़ा रहा है—ये निष्कर्ष में लिए जाते हैं। इनका अर्थ यदि भी ग्रहण किया जाय तो यह बात स्पष्ट है कि है के नाना

भूं भिन्न भिन्न रूपों में प्रकट होता है।

इस तरह यह निष्कर्ष आता है कि भू सामान्य (तुमुन्) प्रत्यय क्रिया (infinitive) होने के कारण अनिश्चित अस्पष्ट और स्वतन्त्र है किन्तु साथ ही साथ है से घनिष्ठ सम्बद्ध होने से यह निश्चित बद्ध और स्पष्ट भी है। अतः यह निश्चित अनिश्चित स्पष्ट अस्पष्ट और स्वतन्त्र-परतन्त्र के तत्त्वपरक विरोधों का समन्वित किए हुए है।

भू (being) के व्युत्पत्ति विचार में भी कुछ रोचक स्पष्ट होते हैं। हेडगर ग्रीक, जर्मन, संस्कृत आदि अनेक नागरीय भाषाओं के मूल धातु रूपों को इस सन्दर्भ में विचार करता है। हम अपनी भाषा-सामर्थ्य के अनुशासन में केवल संस्कृत शब्द पर ही विचार करेंगे। भू के मूल में भूं धातु है जिसका अर्थ होता है प्रकट होना या आविर्भाव। अस्पष्ट और अनिश्चित कुछ इस शक्ति के योग आविर्भूत या प्रकट (emerge) होना है। इससे सम्बद्ध धातु है अस जो प्राणवत्ता या जीवनसत्त्व (living) है। इस परम्परा में वस धातु रूप भी आता है बसना निवास करना रहना (dwelling) अर्थात् स्थायित्व (enduring)। अतः भू शक्ति के तीन लक्षण हैं—अस्ति भवति और वसति। अर्थात् प्राणवत्ता आविर्भाव और स्थायित्व। यह प्राचीन ग्रीक भू का रूप है। यह ऐसी शक्ति है जो ऊपर आती है उदित होती है, उतिष्ठ रहता है और स्थायित्व-युक्त है। इस प्रक्रिया में स्वयमेव यह शक्ति एक भाषा ग्रहण कर लेती है। यह भाषा बाहर से थोपा गया बन्धन नहीं है बल्कि इसके स्वयम्भूत की उस शक्ति सम्पूर्ति (fulfillment) है। आविर्भूत होने में यह भाषा अन्तर्निहित है। क्योंकि इसका आविर्भाव भाषाकारगत अर्थात् रूपमय (morphe) होता है। फलतः यह वह अरूप प्राणवान शक्ति है जो स्वयम्भू है स्वबद्ध है स्वाश्रित है और स्वचालित है। यह शक्ति ही अन्तर्गत (concealment) में व्यक्त होता है तब सत्ता का सत्त्व में वस्तु या भूत का आविर्भाव होता है निर्माण होता है। इस आविर्भाव के मूल में शक्तिगत आन्तरिक विग्रह (conflict) है। यह विग्रह तोड़ता नहीं जोड़ता है सगर्भ करता है। हम एक अपूर्व उदाहरण से इसे स्पष्ट करने का प्रयत्न करें। बीज में एक शक्ति है जो अव्यक्त है किन्तु जिसमें सम्भावित पेड़ है। संघर्ष के परिणामस्वरूप शक्ति व्यक्त रूप (=पेड़) को एक भाषा प्राप्त करता है। यह संघर्ष या विग्रह उस बीजगत शक्ति में ही निहित है और इसी के माध्यम से पेड़ की शाखाएँ पत्ते मूल भूमि आदि शाखित या मुखरित होते हैं। यह

भू का अन्तरंग गुण है जिसमें वह … होता है … प्रकट होता है और भू स्वयमेव दिशाओं या भेदों में विभक्त होता है तथा वह स्थिति … और श्रम में विरमित होता है। जब यह सघन हो जाता है तो भूत (e sent) नष्ट … हो जाता किन्तु उसमें से … चला जाता है। अब निमित्त भूत रूप में अनुभवगम्य वस्तु मात्र रह जाती है। (इसमें … … लगा होता।) … जैसा उसका उपयोग करे। … भूत अन्य भूतों के … और … में … जाता है इस तरह वह भय विलीन हो जाता है। फलतः भू … … की उपस्थिति और भव का … प्राकट्य (world epiphany) नष्ट हो जाता है। सब भूत वस्तुरूप हो जाते हैं।

भू—भव भू—प्राकट्य तथा प्रतीति भू … विचार और भू—भवनीय … … में भी … स्थापित करता है। भू में आविर्भाव है … यह … में भव (bec oming) है और … प्राकट्य … है। भू में … … का गुण प्राकट्य ही है जिसमें प्रतीति स्वयमेव निहित है। भू और विचार (thinking) में … है क्योंकि … विचार बोध (apprehension) पर आश्रित है। बोध प्राकट्य का अविभाज्य अंग है। … भू … किन्तु … भवनीय (ought) के आदेश को प्रायश … कर … है क्योंकि … मूल्यांकन … है और मूल्य … के साथ … (subj ctivity) आ जाता है … भू … का … कर … है। … भू … आत्मनिष्ठा और वस्तुनिष्ठा या विषयी और विषय का आधार है। … है … न … ।

भू … (con tant presence or standing presence) है। … और … में … अभिव्यक्त रहता है। … … … ।

… में भू … … है जो भूतों में भूतों के … में … … … है … (unity)

… (w rld) का … का … … … और … (c mol y) के … में … … । … और … है। … और विचार … ।

होता है। यह भेद में अभेद भिन्न में अभिन्न अनेकता में व्यवस्था और अमूर्तता में मूर्तता उत्पन्न करता है। मनुष्य और भूत को सुसंबद्ध करता है। भूत समूह रूप ग्राम (morpho) भू है। इस प्रकार मनुष्य सूक्ष्म स्तर पर भू है भू (भव) में है और भू (भूत=वस्तु=प्रपंच) के साथ है। इसलिए भू की पुनः स्मृति (recall) में स्थूल स्तर को पार करना पड़ता है क्योंकि स्थूलस्तर अर्थात् भूत या रूप भू को आवरणित रखते हैं। इसलिए भू के इन स्थापित अस्तित्वों का नकारना (nihilation) उसकी पुनस्मृति के लिए अनिवार्य है।



अब भू के विविध रूपों पर विचार करने की स्थिति में हम हैं। प्रमुखतः दो रूप उल्लेख्य हैं —(१) भूत (beings) और (२) भूतत्र (being there)। प्रथम वस्तु जगत् है और दूसरा मानवीय अस्तित्व। हेडेगर के अनुसार अस्तित्व भूतत्र अर्थात् मानव का ही है भूत का नहीं। इसलिए अनिवार्य है कि अस्तित्व क्या है यह समझा जाय। हेडेगर की अस्तित्व की धारणा भी नवीन है जो इस भू से प्रकाशित होता है। अस्तित्व का सम्बन्ध नैतिक और धार्मिक क्षेत्र से नहीं है बल्कि दर्शनगत अतिक्रमण अथवा अतीत भाव (trans cendence) से है। होना (to exist) वस्तुतः स्व से बाहर भव में होना है (to ex s t=to stand outside) अर्थात् भवस्थ अस्तित्व है। भव या संसार पूर्वप्रदत्त है जिसमें मनुष्य का अस्तित्व सम्पन्न होता है और इस सम्पर्क पर वह आश्रित रहता है। यह भू का बाह्योद्गत रूप (overtness of being) है अर्थात् सर्वाभिमुख और सर्वाभिमुख करते भव-सीमित। भू में आविर्भाव और प्राकट्य की अतिक्रमणशील शक्ति है। इसी अतिक्रमणशीलता (trans cendence) का प्रकट बाह्य रूप अस्तित्व है। हेडेगर से पूर्व कीर्केगार्ड और यास्पर्स भी अतिक्रमणशीलता को स्वीकार करते हैं किन्तु वे इसे चेतना का गुण मानते हैं जिसके द्वारा व्यक्ति स्वविकास के लिए स्वतंत्र और सामान्यातीत होने का प्रयत्न करता है। हेडेगर इसे चेतना का गुण नहीं मानता बल्कि इस अतिक्रमणशीलता को प्रकृति को मानवीय वास्तविकता के विचार में (बा मूर्त विधान में जो सम्भावना है उस रूप में) चित्रित करता है।

अब तत्सम्बद्ध दूसरा प्रश्न उठता है कि यह वास्तविकता क्या है? इस क्षेत्र में भी हेडेगर परम्परागत धारणा में परिवर्तन करता है। अरस्तू की

परम्परा में वास्तविकता को सम्भावना से प्रथम माना गया है।* अर्थात् वास्तविकता के विधान में ही कुछ सामान्य गुण है जो उचित सम्पर्कों में आविर्भूत होते हैं। लड्डू का मीठा स्वाद मुख के सम्पर्क में उत्पन्न होता है जो स्वाद में प्रथम लड्डू के वास्तविक विधान में ही गर्भित है। इससे स्पष्ट है कि स्वाद की सम्भावना—परवर्ती या गौण गुण है। हाइडेगर के अनुसार यह परिभाषा वस्तुजगत् अर्थात् भूत तक ही सीमित है भूतत्र अर्थात् मनुष्य की वास्तविकता पर या भू पर लागू नहीं होती। इसलिए वह नयी परिभाषा देता है कि वास्तविकता सम्भावना द्वारा निर्मित है।+ अर्थात् वास्तविकता का विधान ही सम्भावित होने की क्षमता (अतिक्रमण) से निर्मित है सम्भावना न हो तो वास्तविकता का विधान ही नहीं होगा। फलतः मनुष्य की वास्तविकता (अस्तित्व) के विधान में भी सम्भावना की क्षमता (अतिक्रमणशीलता) है। यह चेतनात्मक गुण उसके अस्तित्व की विधानात्मक अनिवार्यता (structural necessity) है।

इसलिए अपनी पुस्तक (being and time) में वह कहीं पर भी मनुष्य शब्द का प्रयोग नहीं करता बल्कि भूतत्र (being there) का करता है। भूतत्र अर्थात् भू का तत्रस्थ रूप। तत्र एक काल विशेष या स्थान विशेष का अर्थ देता है। दूसरे शब्दों में यह क्षेत्र भू का निवास-स्थान (dwelling) है। इस प्रकार भूतत्र में भू संयुक्त है और साथ ही साथ भूतत्र (मानव) भू के प्राकट्य (openness) में स्थित है। भूतत्र भू से सारतः (essentially) सुग्रथित है क्योंकि उसका सार उसके अस्तित्व (अतिक्रमणशीलता) में ही निहित है।०
यहाँ एक बात ध्यातव्य है कि भू भूतत्र में स्थित होते हुए भी विच्छिन्न रहता है इसके द्वारा समाप्त नहीं हो जाता और न वह भूतत्र के तद्रूप होता है। भूतत्र का अस्तित्व भू का एक रूपविधा (mode) मात्र है।

भूतत्र विश्वस्थ भू है। इस शब्द पर थोड़ा और विचार करें। इन्दिरा गांधी भारत की प्रधानमंत्री है। इन्दिरा गांधी नाम क्या दर्शाता है ? या

---

* Actuality is prior to potentiality

+ Actuality is constituted by potentiality

० The essence of Dasein lies in its existence Being and Time

मन है ? यदि यह शरीर ना है तो दूसरा शरीर इन्दिरा गाधी क्या नहीं है ? यदि शरीर की विशेषता (आकार प्रकार रूप-कुरूप आदि) इन्दिरा गाधी है तो ऐसा ही दूसरा शरीर यदि हो तो क्या वह इन्दिरा गाधी होगा ? स्पष्ट है कि नाम शरीर का आरोपण अवश्य करता है पर शरीर नहीं है। तो क्या यह अन्त करण है-एक विशेष अन्त करण ? अन्त करण का नाम इन्दिरा गाधी नहीं हो सकता क्योकि वह अन्त होने के कारण या प्रच्छन्न होने से विशिष्ट सत्ता का नामा के अज्ञात होता है। नाम व्यक्ति का होता है व्यक्ति जो स्वयमात है। स्पष्ट है कि इन्दिरा गाधी न एकाकित रूप से शरीर है और न अन्त करण फिर भी इस नाम से दोनो समाहित है। इन दोनो के समाहार मे एक क्षेत्रविशेष निहित है। इन्दिरा गाधी का अस्तित्व है जो क्षेत्ररूप है अर्थात् किसकी बेटी है किसीकी पत्नी है कहा पर काम करती है कुछ भी हो सकती है आदि आदि। इस अस्तित्व मे शरीर (object) और अन्त करण (subject) दोनो एकान्वित है भू-रूप है। प्रधानमत्रीत्व और भाग्य भी उसी क्षेत्र की ओर इंगित करते हैं। फलत भूतत्र भू का अभिव्यक्त (overt) रूप है जो शरीर की सीमा मे आबद्ध है और भू होने के कारण अतिक्रमण शील प्रकट और आविर्भूत होनेवाला अर्थात् अस्तित्व है। यह अस्तित्व चूकि शरीर एव अन्त करण से समन्वित है इस लिए नश्वर या अनित्य है। इसलिए नश्वरता या अनित्यता भी भूतत्र का निर्माणक तत्त्व है।

भूतत्र अर्थात् मनुष्य इस प्रकार भवस्थ (being in the world) है। उसके तीन परस्पर सम्बद्ध रूप हैं-(१) तथ्यता (facticity) (२) अस्तित्वता (existentiality) और (३) च्युति (forfeiture)। ये तीनो प्रकार मनुष्य की मूलभूत सामित और अनित्य स्थिति मे प्रादुर्भूत होते हैं।

प्रस्तुत भव तथ्यता है। मनुष्य भव मे रहता है। भव मे स्थित भूत वस्तु और अन्य परस्पर सम्बद्ध हैं। जन्म के समय मनुष्य स्वय को इस भव मे पाता है। इसका चुनाव वह स्वय नहीं करता। इसी भव मे वह अब उद्यम करता है। मनुष्य भव की एकालक वस्तुओ का एक भाग है। फलत तात्त्विक दृष्टि से यह भी वस्तु उसकी नहीं है मेरा नहीं है। यह भव इस रूप मे सन्दिग्ध (contingent) है इसमे घटित घटनाओ के सधान और उपलब्धियो को इसी सन्दिग्ध रूप मे मनुष्य को स्वीकार करना पड़ता है। यहा

भूरन या मनुष्य की तरपना है। मैं अपने भर म-देनरात म-रना हूं किन्तु यह तब तक मग नही होगा जब तक कि मैं प्रतिना (a ert) नहीं करता इस अपनाता हूं। पतिना करने ही यह भर मेरा हो जायगा। म इसम मानता अ र इसम कर म सहित पूर्णत मेरा अपना। स्पष्ट है कि यह भर वना ना (ताय त तर) भर वैसा है जैसा हम साधारण भाषा म शास्पीयर के ससार (World of Shakespeare) म प्रयुक्त करते हैं। शेक्सपियर यहां उसका किन किन का उल्लेख करता है। उसका भर ससार और उसकी रुचि का उसम प्रकट होता है।

इस भर का अपनाने का काम मनुष्य अस्तित्वता के द्वारा करता है। भर ता तब तभी अपना बना सकेगा जब वह प्रस्तुत भर और वस्तुओं से आगे बढ़ (surpass) उसका अतिक्रमण (transcend) कर और साथ ही साथ उसका भी। तभी वह इस अपना रूप (design) दे सकता है। इस तरह यह सतत नवीकृत होता और अग्रसर होता रहता है। इस गति म वह भर और भविष्य भरा (वस्तुओं) का नवीन अर्थ दिया जाता है उसके इस भर म ऐसी घटना दी जाती है जिसका अनुमान न तो लगाया जा सकता था जिसका पूर्व कथन (prediction) नहीं किया जा सकता। इतना मनुष्य का प्रश्न तथ्या का उपयोग कर उनम अधिक नया रचता है। यह अस्तित्वता भी मनुष्य की भरता का तत्परता म ही है और पूरा भूत आविर्भाव (emergence) रूप म मनुष्य का काम है।

करता है ? इसके लिए मनुष्य के स्वभाव अस्तित्व विधा (mode of existence) और भूत में उसके सम्बन्धों का विवेचन आवश्यक है।

जैसा कि पहले भी कहा जा चुका है मनुष्य एक सम्भावना है। वह स्वातीत अग्रिम भू (being in advance of himself) है। इसलिए उसे एकाधिक सम्भावनाओं में चुनाव करना पड़ता है और चूंकि यह चुनाव अन्तिम नहीं होता इसलिए यह अनिश्चित है। उसे सतत अतिक्रमणशील रहना पड़ता है। यह अतिक्रमणशीलता पर आधारित सम्भावनाओं का चुनाव भव में ही घटित होता है, अन्यत्र में नहीं। इसलिए उसके अस्तित्व की एक विधा है और उस विधा का एक विधान या ढांचा (structure) भी है—वह है भवस्थ भू (being in the world) अर्थात् भव में उसका अस्तित्व। उसका भू इस भवस्थता के द्वारा निर्मित है। फलतः वह भव के भूतों (beings) से अर्थात् वस्तु और अन्य मनुष्यों से—घनिष्ठतः सम्बद्ध है। वह उनसे निरपेक्ष नहीं रह सकता। भूत-सम्बद्ध कार्य उद्देश्य चिन्ताएं प्रयत्न—ये सब उसके अस्तित्व के आधार हैं। उसकी निजी भव उसकी संलग्नता और चिन्ता का भव है निरपेक्ष वस्तुओं का नहीं। इस भव की वस्तुएं मनुष्य के लिए उपयोगी (ready to hand) हैं। ये वस्तुएं भी अपने सम्बन्धों से निर्मित एक भव में स्थित हैं। मेज का कुर्सी से उस पर रखे कागज आदि से सम्बन्ध है। इस प्रकार वस्तु की सत्ता भी उसके संदर्भों और सम्बन्धों से निर्मित है वस्तु का एक अपना संसार है जो मनुष्य (भूतत्र) के सम्मुख प्रकट होता है या मनुष्य उसे प्रकाशित (luminate) करता है। मनुष्य का भव इन सम्बन्धों की व्यवस्था से बद्ध है किन्तु उसका अस्तित्व सम्भावनाओं की ओर अनियामत प्रेरित और क्रियाशील है। अपनी समान्य योजनाओं (projects) को परिणत करने के लिए मनुष्य इन वस्तुओं का उपकरण के रूप में प्रयोग करता है। इस तरह प्रत्येक भव को मनुष्य अपनी सामर्थ्य के अस्तित्व के अनुसार पुनर्व्यवस्थित या पुनर्निर्मित करता है अर्थात् अर्थ देता है। स्पष्ट है कि यह भव वैज्ञानिक अथवा प्रकृतिवादी दर्शन के भौतिक भव (physical world) से पूर्णतः भिन्न है। पश्चिम के लिए बिल्कुल नवीन और आश्चर्य पूर्ण है। भारतीय के लिए शायद यह उतना अचरज भरा नहीं है। यहां भव को भव-सागर माना जाता रहा है।

वैज्ञानिक भव की वस्तुओं को प्रत्यक्ष विषय (vorhandene) के रूप में गृहीत करता है जबकि मनुष्य उनको उपकरण के रूप में। इनमें विरोध नहीं

है किन्तु जीवन की दृष्टि से वैज्ञानिक का जगत एकांगिक और जीवन रहित होता है इसलिए उसको और भू का आवरणगत रूप बतलाया जाता है।

मनुष्य की इस मनुष्य सत्ता का सम्बन्ध दूसरे व्यक्तियों से भी होता है। अस्तित्व यह दूसरों के साथ (being with others) अथवा सह भू भी है। सह भूत भी उसकी सत्ता का निर्माणक तत्त्व है। मनुष्य की सत्ता सामान्य है सम्बद्ध है इसलिए परस्पर आश्रित है। नेता का अर्थ है पार्टी, प्रजा और राजनीति और पार्टी भी नेता, प्रजा और राजनीति से संयुक्त है। इसलिए मनुष्य वस्तुओं को उपकरण या साधन बनाता, दूसरे व्यक्तियों से भी सम्भावना की सम्पूर्ति में सहायता लेता है। हाइडेगर का मनुष्य विषयीगत (subjective) एकान्तिक और यथार्थ से विच्छिन्न नहीं है। वह सब तरह व्यक्तिगत जीवन के यथार्थ में डूबा हुआ है उसमें संयुक्त या उसी निमित्त है। देकार्त का आत्मनिष्ठ चेतना विशिष्ट "मैं सोचता हूँ अतः मैं हूँ" के एक पक्षीय मानव से सर्वथा भिन्न है। यदि साधारण जन है तो प्रामाणिक बनकर असाधारण होता है। हाइडेगर इस प्रकार मनुष्य विचार को धरती पर मस्तक पर ला खड़ा करता है।

मनुष्य इस तरह से सम्बद्ध है इसलिए सामाजिक सम्बन्ध उसकी सत्ता के लिए अनिवार्य है। वह इनके उत्तरदायित्व से प्रामाणिक रूप से बच नहीं सकता। जब वह इनसे बचने की कोशिश करता है (जो प्राय लोग करते हैं) तो वह मनुष्य न रहकर व्यक्तित्वहीन "सर्व" (impersonal one=das man) हो जाता है भू का बुरा होता है और समाज प्रचलित और प्रचलित सभी रीति रिवाजों का उपकरण बन जाता है। उसका मूल्य न स्वाभाविक स्थिति का होता है और वह विषयीकृत (objectified) हो जाता है। मनुष्य में उत्तरदायित्व से बचकर इस अप्रामाणिक रूप में परिवर्तित होने की प्रवृत्ति गुणसाधारण वृत्ति है यह उसकी सत्ता की प्रकृति है। मनुष्य स्वयं को एक वस्तु या सम्भावना रूप में समझता है और अतिक्रमण या चुनाव की उपेक्षा करता है। सत्ता से ... गिरना हो जाता है। हाइडेगर इस पतन को सत्ता का ... कहता है क्योंकि मनुष्य भूतानुगत है। किन्तु मनुष्य इस स्थिति का ... रूप (modify) करता है उसका अतिक्रमण करता है उसे ... कहते हैं।

मनुष्य अस्तित्व के ... में ... पुनरुद्धार और

नया अर्थ प्रदान करता है—अपनी सम्भावनाओं के सन्दर्भ में उनके अनुरूप। यह अर्थ गत व्यावहारिक न होकर अस्तित्वपरक होता है। भय का बोध उसे भय में स्वयं के अवनिधान और सीमितता से उपजता है। इसलिए उसको अपने को प्रयत्न और त्याग में निरन्तरता के साथ इस भय का सामना करना पड़ता है। इस प्रक्रिया में वह अर्थ ग्रहण करता है। इस मार्ग तथा समर्पित अर्थ प्राप्ति के लिए विज्ञान के भौतिक नियमों को भी इस मानवीय सम्भावनाओं के प्रकाश में पुनर्संस्कार करना होता है।

ऐसी परिस्थिति में उसके सामने प्रामाणिक और अप्रामाणिक जीवन के रूप प्रकट होते हैं। अप्रामाणिक जीवन में वह वस्तु (thing) या भूत बन सकता है जबकि प्रामाणिक जीवन अंगीकार कर वह सच्ची सत्ता—मूल्य सत्ता स्वीकार कर सकता है। इस स्थिति में चुनाव अनिवार्य है। अप्रामाणिक जीवन में वह स्वीकृत प्रदत्त स्तर पर विचार और कार्य करता रहता है। वह दैनिक सुख दुःख में तल्लीन हो जाता है एक बाहरी अनाम उपस्थिति में शामिल होता हुआ उसी को सुख दुःख सफलता असफलता के लिए उत्तरदायी मानने लगता है। यह समूह जीवन है जो भय से मुक्त होने के कारण अत्यधिक उचित प्रतीत होता है। सब ऐसा करते हैं की गैरजिम्मेदाराना दृष्टि ही अप्रामाणिक जीवन का परिचायक है। हाइडेगर इसे पतन मानता है मनुष्य की च्युति मानता है। क्योंकि इसके द्वारा मनुष्य अपनी सत्तागत सम्भावनाओं से वियुक्त हो जाता है और अपने निस्सार अस्तित्व का दास बन जाता है। इस प्रकार वह स्व निर्मित समाज्य सत्य—मूल्य अनाम भीड़ रह जाता है।

सत्य से अभिव्यक्त वस्तु के प्रति वह भीड़ उसमें संत्रास उत्पन्न करती है एवं पाप भावना उपजाता है। वह अपने सत्य और सम्भावना से अलग भागता है, क्योंकि उसे ऐसा महसूस होता है कि उसका यह सत्य ऐसा है जो इसकी वस्तुगत स्थिति स्व पक्षधरता और समूहगत रमणता को विशृंखल कर देगा। यह वास्तविक विपत्ति है क्योंकि वह सत्य (सम्भावना) निश्चित रूप से उसकी और अनिवार्य (unique) सत्ता का—सम्भावना स्वत्व व्यक्तिगत होता। समूह और वस्तु से टूटने का आभास उसमें संत्रास उत्पन्न करता है तो दूसरी ओर सत्य से च्युत होने की अनुभूति भी इस संत्रास का कारण है। इसलिए संत्रास सामान्य भय नहीं है। भय किसी विशिष्ट वस्तु से उपजता है, जबकि इस संत्रास का कोई निश्चित उत्पादक विषय नहीं होता। यह संत्रास सर्जनात्मक

ग्रोर विनाशात्मक किया है। यदि व्यक्ति न्या भयभीत हो जाता है तो वह मत्यु की ग्रोर भागता है वस्तुगत हो जाता है ग्रौर परिणाम स्वरूप स्व गत्य में विघटित न हो जाता है जबकि व यदि इसका सामना कर सका है तो वह स्व गत्य की पूर्ति की ओर उन्मुख हो प्रामाणिक प्राणी हो जाता है। यह त्रासा मनुष्य को इस पथ में स्वतन्त्र बनाता है। वह भय का साक्षात्कार करता है उसे स्वीकार करने या ग्रस्वीकार करने का चुनाव मानिजय चानि वाय है।

मानव ग्रस्तित्व के चिन्ता (orge) गम्भीर स्तर में वह परिस्थिति पूरा तरह लक्षित होता है। भूतत्व (मानव ग्रस्तित्व) यन्त्र हो वस्तुवत् भूयमान भू है इसलिए भविष्य में सम्मिलित हो ... है किन्तु साथ ही साथ यह न या भूत में सम्बद्ध भी है। चिन्ता में यह तत्त्व लक्षित है। चिन्ता के प्रागमन तीन तरह है। प्रथमत व्यक्ति की सत्ता स्वाभिमुख पूरक है वह जो है मानता है बल्कि वह जो होगा सो है ग्रर्थात् यह भूत नहीं है भूयमान है सम्भाव्य है। इसलिए स्वरूपत वह स्वातीत है कुछ नया होने वाला है जो ग्रब नहीं है। उस ग्रागन्तुक या भव्य के लिए उसका उपलब्धि के लिए भावना चिन्ता है। दूसरा ग्रोर चिन्ता व्यक्ति की पूर्वप्रश्न भव में उपस्थिति ग्रौर भव में स्व गत्य को स्पष्ट बनाने की ग्राकुलता को भी समाहित किये हुए है। ग्रौर ग्रन्तिम रूप में चिन्ता के द्वारा मनुष्य के भवगत सम्बन्ध ग्रौर काय तज्जन्य प्रभाव या भावना भी लक्षित होती है। इस तरह चिन्ता मनुष्य की वर्तमान भूत ग्रौर भविष्य की गत क्रियाग्रों का समन्वय हुग्रा है।

ग्रब मनुष्य की व्यक्तिगत सत्ता की सम्भाव्यता को समझना जरूरी है। सम्भाव्यता है यहा इसलिए यह ग्रनन्त ग्रौर ग्रपूर्ण है। सान्तता ग्रौर पूर्णता ग्रप्राप्य ही रहता है। मृत्यु के आगमन से सब सम्भावनाग्रों का हरण हो जाता है। किन्तु मृत्यु भी तो सम्भावना है। जन्म होता है फलत मौत ग्राती है। इस सम्भाव्य मौत का सेवन मनुष्य प्रारम्भ से ही करता है। वस्तुत मृत्यु उसकी सत्ता में ही समाहित है उसे हटाया नहीं जा सकता। इसे प्रामाणिक रूप में स्वीकार करना ग्रावश्यक है। व्यक्ति मरता है इसका ग्रर्थ है कि मृत्यु एक ऐसी सत्तागत सम्भावना है जो ग्रन्य सम्भावनाग्रों का हरण ही नहीं करती बल्कि उनकी नश्वरता ग्रौर ग्रनिश्चितता भी सिद्ध करती है। मनुष्य शून्य (जन्म से पूर्व शून्य है—मनुष्य के लिए) से पैदा होता है ग्रौर शून्य (मृत्यु) में विलीन हो

जाना है। मत्यु म नावन या मत्ता की ग्रमत्ता सभव हानी है ग्रर्थात मृत्यु शून्य (nothing) हान की सभावना है जा व्यक्तिगत मत्ता म ही समाहित है। मत्रास वा स्थिति म मनुष्य वा यह प्रतात हाता है कि वह मत्य है, उसका ग्रविभाव तिरोभाव (मत्यु) व लिए है। य' तथ्य उमक दनिक काय-व्यापारा म या व्यक्तिगत जावन-यापन म दवा छिपा रहना है।

मृत्यु मनुष्य को प्रामाणिक जीवन यापन का परिचय ही न' वरवानी उस उम जावन म सक्रिय भी करती है। व्यक्ति मत्व मत्यु व ग्राभाम म रहता है। मौत कभी भी ग्रा सकती है। उसका ग्राना जावन की सब वस्तुग्रा-धन श्री राग द्वेष ग्रधिकार वमव ग्रादि वा नश्वर निरथक ग्रौर निराधार बना दगा। इस तरह जीवन म मौत का स्वीकार वस्तुग्रा को सच्च रूप म प्रकट करेगा उनका ग्रवमूल्यन करगा। धन ग्रधिकार राग' प ग्रादि का समू'गत शून्य रू' हो जायगा उनकी निरथकता ग्रमत्यता ग्रस्थिरता नश्वरता व प्राक'य स उनकी 'यक्ति की दृष्टि म कीमत भी घट जायगी। एसी मौत को व्यक्ति या तो स्वीकार कर या भुलाय-यह चुनाव उसे करना है। सामा'यत समूह-व्यक्ति 'स भुलाना है ग्रप्रामाणिक जावन का चुनाव करता है ग्रौर भ्रमों म ग्रनस्तित्व म जीना है। मृत्यु का चुनाव उसका वरण मनुष्य का दनिक जीवन व प्रति पराङ्मुख विरक्त या उ'ासीन नहीं बनायगा बल्कि उसम एक तटस्थ भाव या स्थितप्रज्ञता उत्'न करगा जिसम वह दनिक जावन व व्यापारा से ठगा न'ीं जायगा ग्रौर स्व का तद्रूप नहीं करगा। वह सीमित साथकता क साथ उन्ह स्वीकार करगा। 'स तात्पय म उसक जावन म ग्रात्मशान्ति सद् भाव ग्रौर सहिष्णुता उत्'न हागा। (मत्यु का सम्ब'य नास्तित्व म है उसका विवचन ग्राग हागा।)

जीवन की 'स प्रामाणिकता का प्रेरित करन वाला शक्ति व्यक्ति का मत्ता म ही स्थित ग्रन करण (conscience) है जा चुनाव क लिए बाध्य करता है ग्रौर उसक 'यवहार का मूल्याक' करता है। यह ग्रप्रामाणिक हान पर उस धिक्कारता है जबकि प्रामाणिक बनाकर उस नश्वरता को पहचानने ग्रौर उस म रहन की ग्रनिवायता उद्घाटित करता है। य' ग्रन करण पूव चचित चिन्ता क वियान म 'ी है। य' समाश्रय भू है जो सभव (निर्मित) भू (दनिक भूत जगत म त'्प) का उद्बोधन करता है। 'स भू की प्रेरणा स मनुष्य (भूतत्र) अपनी सभावित नश्वरता का स्वीकार करता है। नश्वरता क साथ (ग्रपूणता)

सार्त्र ने दर्शन का समाजपरक प्रा अन्य (other) की धारणा पर आधारित है। हीगल आदि के परम्परागत दर्शन में अन्य को बोध का एक विषय (object of perception) समझा जाता रहा है विषयी नहीं। सार्त्र इस अस्तित्वगत सन्दर्भ में स्थित करता है और इसे विषयी (subject) भी मानता है। चेतनाओं की अनेकता सार्त्र दर्शन में स्वीकृत हुई है। इसलिए अन्य चेतना की सत्ता सत्ताविज्ञानगत (ontological) है। अन्य व्यक्ति स्वयं एवं अपने वस्तुगत और आन्तरिक विश्व का निर्माण करता है जिससे मेरे विश्व का खण्डन होता है। वह मेरे विश्व को चुरा लेता है फिर भी मेरे विश्व का विषय रहता है। सार्त्र इसे मेरे विश्व में एक छेद कहता है। अन्य मेरी ओर देखता है। इसी देखने के द्वारा स्वयं को मेरे विरुद्ध एक विषयी के रूप में निर्मित कर लेता है। तथा मुझे वह विषय बना लेता है। कान्त लज्जा (shame) व्यक्ति में अन्य के द्वारा ही उत्पन्न होती है। वह अपनी दृष्टि (look) के माध्यम से मेरा अतिक्रमण करता है अर्थात् उसकी सम्भावनाएं मेरी सम्भावनाओं के पार जाती हैं। इस तरह मन्व अन्य के द्वारा मेरा अवरोध होता रहता है मैं अपनी परिस्थिति का स्वामी नहीं रहता। अन्य की दृष्टि मुझे उसके संसार या देश (space) में व्यवस्थित करती है स्थित करती है। इसके अतिरिक्त वह मुझे काल से भी बांधती है। मैं उसकी चेतना में बद्ध हो जाता हूं। उस क्षण मैं उसका दास हूं जिसका परिणाम यह होता है कि लज्जा घमण्ड अलगाव आदि के मानसिक भावों के द्वारा मैं उसकी चेतना या दृष्टि के प्रति प्रतिक्रिया करता हूं। इन भावों की यदि में जागृति अन्य की सत्ता को प्रमाणित करती है। अन्य इतना विविधरूपी है कि उससे मेरे सम्बन्धों को निश्चित धारणाओं में नहीं बांधा जा सकता।

अन्य के भान से चेतना में दो प्रकार के दृष्टिकोण पैदा होते हैं। या तो मैं जिस रूप में मैं स्वयं को जानता हूं उसी प्रकृत रूप में स्वयं को समझूं या जिस रूप में मैं अन्य के द्वारा जाना जाता हूं उस परभान रूप में स्वयं को मान लूं। पहले में विषयी और दूसरे में मैं विषय बन जाता हूं। इसका फल यह होता है कि मुझमें मानसिक तनाव क्षोभ और भय उत्पन्न होते हैं। यह अन्य प्रमाणतः अस्तित्व है। मेरे अस्तित्व के लिए यह आधारभूत नहीं है पर यह है अवश्य। यद्यपि अनिवार्य है कि मेरी चेतना का स्वरूप में अन्य नहीं

हूँ या नकारात्मक सम्बन्ध स्थापित हो। यह नकारात्मक सम्बन्ध परस्पर भान के कारण विशिष्ट है। वस्तु और चेतना के नकार में पारस्परता नहीं है जबकि अन्य चूँकि चेतन है वह भी मेरा नकार करता है। मेरी चेतना में द्वैत उत्पन्न होता है जो एक दूसरे का मुकाबला करते रहते हैं। अन्य मेरी चेतना के पथ को इस रूप में सीमित करता है। चेतना अन्य तक पूरी तरह से नहीं पहुँच सकती और न अन्य की चेतना मुझ तक पूर्णतः आ पाती है। इस तरह अन्य से सद्भाव या मेरे अस्तित्व का सम्बन्ध असम्भव हो जाता है। अन्य मेरी सीमा बनाओं के अतिक्रमण के द्वारा मेरी स्वतन्त्रता का हनन करता है। मैं अपनी अतिक्रमणता या स्वतन्त्रता को फिर से विजित करता हूँ तो अन्य से द्वन्द्व का सम्बन्ध स्थापित होता है। युद्ध क्षेत्र में सिपाही ये प्रयत्न करता है। अन्य का भय उसे पीड़ा देता है वह उसकी सम्भावना अर्थात् शरीर को नष्ट जानता। इसलिए अपनी सम्भावना की सबसे स्थापना करता है। स्वयं विषयी बनने का प्रयत्न करता है।

वास्तव में अन्य मूर्त चेतना या विषयीत्व (concrete subjectivity) है। यह इस रूप में अनुपस्थित–उपस्थित है। मैं उसे विषय ही रखना चाहता हूँ अर्थात् उसकी चेतना को अनुपस्थित करता हूँ जबकि वह चेतना युक्त है इसलिए उपस्थित है। इसके अतिरिक्त वह शारीरिक अनुपस्थिति के द्वारा भी उपस्थित है। उसकी उपस्थिति अपरिहार्य है। क्योंकि इसकी सत्ता चेतना में ही आन्तरिक नकार पर स्थित है। यह तत्त्वरूप से हमारे अनुभूति गम्य है।



अन्य की उपस्थिति अलगाव को और भी सघन और अनंत क्षेत्रीय बनाती है। अन्य मुझे शरीर के माध्यम से देखता है अर्थात् चेतना में मेरा शरीर दो रूपों में प्रकट होता है–(१) शरीर जो अन्य के द्वारा जाना जाता है–परार्थ है और (२) वह शरीर जो मेरे लिए है–स्वार्थ है। अब इन दोनों में भ्रम मानना पड़ता है। इस प्रकार चेतना में विभाजन या खण्डन जन्म लेता है। शरीर से चेतना अलग होता ही है चेतना में भी अलगाव उत्पन्न होता है जबकि अन्य रहित चेतना में चेतना और शरीर में अलगाव नहीं होता ऐसा विदित रहता है। अन्य के रूप में इस शरीर-सम्बद्ध चेतना के तीन रूप बन जाते हैं जो एक साथ उपस्थित रहते हैं जिसमें कार्य क्रम या व्यवस्था रहता है।

अन्य का विषय है ऐसा प्रतीति होती है। मैं अपने शरीर को अन्य की दृष्टि से देखने लगता हूँ। कोई कहे कि तुम्हारी आंख कितनी खराब हैं, इसके प्रभाव से मैं अपनी आंखों को खराब समझूँ और शर्म से नीचे देखने लगूँ तो मैं दूसरे की दृष्टि से अपने शरीर को देख रहा हूँ। इसका अर्थ हुआ कि चेतना और शरीर का अलगाव होता है और शरीर मेरी चेतना का ठीक उसी रूप में विषय बन जाता है जिस रूप में वह अन्य के लिए है।

स्पष्ट है कि सार्त्र के दर्शन में यह अन्य एक विघटनकारी अस्तित्व है। इसलिए इसमें शान्तिपूर्ण सद्भावमय सम्बन्ध का निर्वाह कठिन है। सार्त्र धार्मिक भाषा का प्रयोग करते हुए कहता है कि अन्य मेरा मूल पाप है अर्थात् इसकी उपस्थिति सदैव पीड़ादायक अपराधजनक और वमनस्थापित है लेकिन इससे कोई बचाव भी नहीं है। अन्य के लिए मैं जैसा हूँ हूँ। वह मुझे पूर्ण बनाता है अर्थात् मेरी सम्भावना को बद्ध कर मेरा अतिक्रमण करता है। मेरी स्वतन्त्रता भी उसके लिए वस्तु के समान प्रस्तुत है। वह सदैव मेरे मूल स्वरूप अर्थात् मेरी गतियुक्त चेतना को जड़ विषय में बदलता रहता है। इसलिए उसकी उपस्थिति मुझे में या तो प्रेम के द्वारा उसकी स्वतन्त्रता जीतने की इच्छा उत्पन्न करता है या कामेच्छा (desire) के द्वारा उसका शरीर विजित करने की आग उपजाती है। इस कामेच्छा की प्रतिक्रिया घृणा (hate) में हो जाता है।

अन्य से प्रेम का सम्बन्ध असफल होता है। यह असफलता क्यों है कैसे है? इसे समझने के लिए सार्त्र की प्रेम की धारणा का विवेचन आवश्यक है। प्रेम उन अनेक युक्तियों (projects) का समाहार है जिसके द्वारा मैं अन्य को चेतन विषय (conscious object) के असम्भव रूप में निर्जित करना चाहता हूँ। अतः अन्य की चेतना या स्वतन्त्रता का हस्तगत करना चाहता है किन्तु वह यह नहीं चाहता कि अन्य एक भौतिक तथ्य या वस्तु के रूप में उसे प्राप्त हो। वह चेतनायुक्त अन्य को चेतनायुक्त वस्तु बनाना चाहता है और यह असम्भव है। इसलिए प्रेम विरोधगत है। प्रेमी और प्रेमिका परस्पर चेतन अन्य हैं। एकता स्थापित करने का प्रयत्न प्रेम है। यह प्रयत्न प्रायः दो रूप धारण करता है। प्रेमी प्रेमिका के लिए विषय है इसलिए वह प्रेमिका की इच्छा के अनुरूप अपनी चेतना की अवहेलना करते हुए—बनने की चेष्टा करता है। इस प्रकार अपनी स्वतन्त्रता का हनन करता है और प्रेमिका की

दृष्टि से स्वय को देखना हुआ विषय बनने का प्रयत्न करता है जिसमे आप पिन होकर प्रेमिका उसस एक हो जाय। इसी प्रकार का वस्तु बनने का प्रयत्न प्रमिका भी अपनी ओर स करती है। स्पष्ट है कि एकता स्थापित करने की यह क्रिया अर्थात् प्रेम असफल होगा। क्योंकि दोनो अपनी चेतनाओं का कभी भी नहीं हटा सकेंगे यह असम्भव है। इसके अतिरिक्त जब भी प्रेमिका का यह आभास हो जायगा कि उसका प्रेमी एक जडवस्तु मात्र है उसका आकर्षण समाप्त हो जायेगा। फलत प्रेम असफल होगा। इस असफलता से बचने का प्रयास स्वपीडन वृत्ति (masochism) है। प्रेमिका स एक होने की लालसा म प्रेमी अपनी स्वतन्त्रता जो उसम सघर्ष (conflict) का कारण हो सकता है का तिलाजली देने का प्रयत्न करता है जडवस्तु बनना चाहता है। यह असम्भव है। इसलिए प्रेम असफल है अन्य से सामजस्य अशक्य है। फिर भी प्रेम एक प्रिय भ्रम होने के लिए सत्य है। इसलिए मनुष्य जीवन प्रारम्भ से ही इसके वृत्त म घूमता रहा है।

परपीडा वृत्ति (sadism) के द्वारा अन्य को विजित करने का प्रयत्न प्रेम म अन्य की स्वतन्त्रता विजय की असम्भावना के बोध स शुरू होता है। जब मैं अन्य की स्वतन्त्रता को प्रेम के द्वारा नहीं विजित कर सकता तो मैं अपनी स्वतन्त्रता के सबल प्रयोग से उसे विजित करता हू। अर्थात् अन्य को अपनी दृष्टि म केवल वस्तु म परिवर्तित कर देना चाहता हू। इस प्रकार उसके विषयीभाव (subjectivity) का नष्ट भ्रष्ट कर अपने विषयी भाव की प्रतिष्ठा करता हू। पर यह अन्य पर विजय नहीं होता उसके प्रति उदासीनता (indifference) म परिणत हो जाती है। मेरा विषयीभाव या स्वतन्त्रता मेरे लिए दुख का कारण हो जाता है। अकेलेपन का बोध मुझे ग्रस्त कर लेता है। क्योंकि मुझ म इच्छा है। इच्छा अभाव म उपजती है और किसी स्वबाह्य विषय के लिए होती है। इसलिए अन्य की उपस्थिति मेरी सुख कल्पना के लिए अनिवार्य है। यह दूसरी बात है कि मात्र के मैं की यह ... कभी पूर्ण नहीं होती। कामेच्छा (sexual desire) स अन्य म सुसम्बद्ध होने का प्रयत्न मैं ... भी असफलता ही मिलेगा। पुरुष म नारी की ... उसके शरीर के प्रति ही जाग्रत नहीं रहती उसके सम्पूर्ण व्यक्तित्व के प्रति जागती है। किन्तु कामेच्छा म चेतना को शरीर म तन्मय करने की प्रवृत्ति होती है। कामान्ध व्यक्ति वस्तु रूप हो जाता है स्वतन्त्र चेतना नहीं रहता। इसलिए

चेतना के अभाव में अन्य से सम्बन्ध हो ही नहीं सकता।

कामेच्छा में भी अन्य उपस्थित है। कामेच्छा अन्य को केवल शरीर के रूप में जाक्ति रखने का प्रयत्न ही है। आलिंगन, लाड़-दुलार (caress) आदि अन्य को मात्र शरीर की सत्ता की अनुभूति कराने का प्रयास है। 'अन्य' स्वयं माध्यम में स्वयं के लिए और मेरे लिए भी शरीर (flesh) मात्र रहे। अन्य को स्व शरीर का भान मेरे शरीर के द्वारा ही होता है। फलत कामेच्छा में शरीरों का सम्बन्ध निर्मित होता है चेतन और चेतन का नहीं। यह कामेच्छा का सम्बन्ध व्यक्ति का अन्य से आदिम सम्बन्ध है। मैं इससे अपनी स्वतन्त्रता का हनन करता हूँ और अपनी चेतना या सम्भावना को शरीर रूप बना देता हूँ इस आशा में कि अन्य भी ऐसा ही करेगा। अन्य ऐसा न करे तो यह प्रयत्न भी निष्फल होता है। पर यदि वह ऐसा कर ले तो भी सम्बन्ध की असफलता से नहीं बचा जा सकता। क्योंकि सम्भोग में कामेच्छा की पूर्ण तृप्ति हो नहीं होता, उसकी चरमावस्था में अन्य की विस्मृति भी उत्पन्न होती है। इसलिए सम्बन्ध कैसा? इसके अतिरिक्त कामेच्छा के विकार (disturbance) के पलायन के पश्चात् अन्य फिर या तो एक सामान्य विषय (ordinary object) बन जाता है या मुझे विषय बनाकर विषयी (subject) हो जाता है।

कभी कभी व्यक्ति अन्य के इस शरीर पलायन को रोकने के लिए परपीड़ा (sadism) का आधार लेता है। परपीड़क व्यक्ति स्वयं विषय अर्थात् शरीर नहीं बन सकता इसलिए वह अन्य को—अपने शरीर को उपकरण (tool) बनाकर—शक्ति से स्वतन्त्रतारहित शरीर बनाना चाहता है। पीड़ा के द्वारा उसे शरीर की अनुभूति करवाता है और उसकी स्वतन्त्रता को विस्मृत करवाने का प्रयत्न करता है। स्पष्ट है कि यह रास्ता भी निरर्थक सिद्ध होगा। क्योंकि परपीड़ा के शिकार अन्य का समर्पण कभी स्थायी सम्पूर्ण और स्पष्ट नहीं होता। कभी भी वह अपनी स्वतन्त्रता को छीन सकता है।

स्पष्ट है कि सार्त्र की दृष्टि में व्यक्तिगत सम्बन्ध असफल होने के लिए हैं। सामञ्जस्य या शान्तिपूर्ण सद्भाव प्रायः असम्भव है। इसका मूल कारण यह प्रतीत होता है कि सार्त्र स्व चेतना की अपनी मूल धारणा (जिसमें नकार और अतिक्रमण ही हैं विधिपरक कुछ भी नहीं है) से प्रतिघात होकर ही विवेचन करता है। अन्य हमेशा उसके लिए चुनौती के रूप में ही आता है

द्व्न्द्व की सृष्टि म । अन्य चेतना है विषय है और मैं भी वैसा ही हू । इसलिए मेरा या उसका प्रयत्न काय—चाहे वह लडना हो या उपहार देना—मेरे या उसके लिए दपदमन या दीनता (humiliation) ही साबित होता है । अन्य मेरी सीमा है मैं अन्य की सीमा हू । इसलिए कभी कभी इस सीमा को नष्ट करने की प्रवृत्ति घृणा (hate) भी उत्पन्न करती है । घृणा अन्य की उपस्थिति से स्वय को स्वतन्त्र करने का प्रयास है जिसमे मेरा अलगाव सर्जित होता है । किन्तु यह घृणा फिर विशिष्ट अन्य तक ही सीमित नही रहती चेतना की सवतोमुखी स्वतन्त्रता पर आश्रित होने के कारण सवघृणा म परिवर्तित हो जाती है । घृणा भी असफल होती है क्योंकि अन्य की सत्ता नष्ट नही हो जाती ज्यो की त्यो रहती है ।

इस प्रकार सात्र का मानवीय जगत् द्वन्द्व अलगाव अशाति द्वेष सघष हीनता पीडा निराशा असफलता आदि के नकारो से भरा पडा है । अब प्रश्न उठता है कि इस एकान्त विच्छिन्न मैं से समाज कैसे बनता है ? या सामाजिक सम्बन्धो के सदभ म इस मैं की क्या स्थिति है ? सात्र चेतनाओं की अनेकता को स्वीकार करता है ।* अर्थात् मैं अनेक हैं । क्या ये मैं सब अलग अलग असम्पृक्त अवस्था म है या रहते हैं ? सात्र का उत्तर है कि ये किसी समूह क्रिया (collective) द्वारा जुडे हुए भी हैं । मतलब इनका समूहगत अस्तित्व भी है । इस अस्तित्व को वह दो रूपो म देखता है—

(१) विषयरूप हम (Us object)—जब मैं और अन्य का सम्पक या सघष द्वारा रहता है तब यदि कोई तीसरा व्यक्ति आकर हम देखता है तो मैं और अन्य दोनो उस तीसरे के विश्व म विषय हो जाते है । इस तृतीय के द्वारा मेरा और अन्य की सभावना का रास्ता तोना परखा और नकारा जाता है । इसम मैं और तुम (अर्थात् अन्य) एक हो जाते हैं विषयपरक समानता पैदा होती है । इस सात्र इस विषय की सामूहिकता कहता है जो अपमानकारी पुरुषत्वहीनता की अनुभूति और विच्छेद भाव को पैदा करती है । इस अनुभूति के लिए तीसरे की भौतिक उपस्थिति अनिवाय नही है उसका भान ही पर्याप्त है । इससे शासित और शासक का वग सघष उपजता है । मुख्यत यह तृतीय सत्ता है । शासित का स्वातन्त्र्य हम विषय से हम बनता है [illegible] । इसम सात्र व्यक्तिगत सम्बन्धो म प्राप्त प्रेम घृणा इच्छा आदि की भावना क्रियाशील रहता है ।

---

*इसका कोई बुद्धिगम्य कारण उसके दशन म अप्राप्य है ।

नता भी यह तृतीय पुरुष है। ईश्वर मानव तृतीय रहता है अर्थात् विषयी हो रहता है।

(२) विषयीरूप हम (We subject)—सार्त्र विषयीरूप हम को केवल मनोवैज्ञानिक सत्ता मानता है जो केवल अनुभव मात्र है। इसकी सद्विद्यागत स्थिति नहीं है। उत्पादित वस्तुओं के समक्ष उनके उपभोक्ता होने के कारण हम विषयी हैं। इसी प्रकार वक्ता वर्ग जाति आदि विषयी हम के उदाहरण हैं। ब्राह्मणों ने शूद्रों का शोषण किया। ये ब्राह्मण विषयीहम के प्रतिनिधि हैं।

संक्षेप में कहें तो सार्त्र व्यक्ति का व्यक्ति और समाज के सम्बन्ध में सहजीवी न मानकर संघर्ष-जीवी मानता है। व्यक्ति और समाज के सम्बन्ध का सामान्यीकरण भी सामाजिक सम्बन्ध में मिलता है। यहाँ भी वह मैं की सत्ता को भूलता नहीं। क्योंकि विषय हम की भावना क्षणिक है तथा तृतीय के भय पर आश्रित है। भय दूर होते ही फिर मैं और तुम का संघर्ष प्रारम्भ हो जाता है। इसके अतिरिक्त विषय-हम की एकता में वह पुरुषत्व हीनता रहती है जबकि मानववाद, जिससे वह प्रारम्भ में सम्बद्ध रह चुका था इसे मानव शक्ति मानता है। सार्त्र का यह विचार पूर्णतः व्यक्तिगत परिस्थिति और अनुभव से उद्भूत हुआ है। जर्मन आक्रमण का प्रतिरोध करने वाले कुछ व्यक्ति मौत के साक्षात्कार के समय यदि शक्तिहीनता या भय की बात करें तो उनकी अनुभूतिगत प्रामाणिकता समझ में आती है। किन्तु दर्शन की वस्तुपरकता में उससे विरोध पैदा होता है। अस्तित्ववाद इस रूप में केवल व्यक्तिगत दर्शन बन कर रह जाता है।



व्यक्तिगत परिस्थिति की प्रतिक्रिया का दूसरा परिणाम सार्त्र की चरम स्वतन्त्रता की धारणा है जो अधिकांश व्यक्तियों—विशेषतः साहित्यकारों—में अत्यधिक लोकप्रिय एवं प्रचलित है और बहुत ही गलत समझी गयी है। इस चरम स्वतन्त्रता को दार्शनिक रूप को सामान्यतः प्रचलित स्वतन्त्रता से भिन्न समझना चाहिए। स्वतन्त्रता की प्रचलित धारणा यह है कि व्यक्ति जो भी चाहे उसे प्राप्त करे अर्थात् उसे अपनी इच्छा पूर्ण करने की सुविधा मिले। कोई व्यक्ति एक लाख रुपए पाने की कामना करे और उसे उसी समय मिल जायें। इसे ही वह व्यक्ति चरम स्वतन्त्रता मानता है। दार्शनिक चरम स्वतन्त्रता

म कामना पूर्ति नहीं होती स्वय का निर्माण होता है चुनाव या वरण होता है जो काफी कठिन कार्य है। सार्त्र इस धारणा को कार्य (action) से संयुक्त करके देखता है। इसलिए स्वतन्त्रता म पहले कार्य क्या है ? इसे समझें। बिना आशय (intention) की क्रिया कार्य नहीं है। एक तम्बाकू पीनेवाला यदि गलती से किसी घर म आग लगा दे तो उसे कार्य नहीं कहा जा सकता। अत कार्य म आशय होना अनिवार्य है। आशय म अभाव की सहजानुभूति अन्तर्गर्भित है पूर्ण म आशय की स्थिति असम्भव है। आशय म कोई वस्तु नहीं है की अनुभूति और इसे होना चाहिए की लालसा होती है। फलत आशय म चेतना का भूत से मुक्त होने यथास्थिति से बिछुड़ने और सम्भाव्य की ओर गतिशील बनने की शाश्वत सम्भावना निहित है। चेतना की यह नकारी क्रिया और एक उद्देश्य या प्रयोजन की प्रतिस्थापना की सम्भावना ही स्वतन्त्रता है। अर्थात् स्वतन्त्रता चेतना की वह शक्ति है जिसके द्वारा वह कार्य के आधार पर भूत और यथास्थिति से मुक्ति प्राप्त करता है और स्वतन्त्र रूप से उद्देश्यों और प्रयोजनों का निर्माण करता है। लेकिन एक बात और विचारणीय है कि ये उद्देश्य और प्रयोजन अंतिम या स्थिर नहीं होते *सतत नवनिर्मित होते रहते हैं। क्योंकि स्वतन्त्रता अपनी निर्मिति म भी बद्ध* नहीं होती उसका भी वह नकार करता है। चूंकि चेतना सतत निर्माणाधीन है कभी भी निर्मित नहीं होती फलत स्वतन्त्रता भी अनवरत गतिशील सृजन प्रक्रिया है।

सार्त्र इस स्वतन्त्रता के लिए कोई सीमा मर्यादा या बन्धन स्वीकार नहीं करता है। यह नकार पर आश्रित है इसलिए पूर्ण स्वतन्त्र है। बन्धन तो नकार के त्याग से उत्पन्न होता है। ऐसा कहते हैं अन्य म प्रतिबद्धता आ जाती है जबकि चेतना से अन्य म स्व का सम्बन्ध होता है अन्य की अवहेलना होती है और स्व की स्वतन्त्रता की उपलब्धि भी। इसी आधार पर सार्त्र नियतिवादी (deterministic) दर्शनों का विरोध करता है। नियति म उद्देश्य पहले से या वस्तुतः दिए जाते हैं। व्यक्ति इन उद्देश्यों के दबाव और प्रभाव के अन्तर्गत चिन्ता स्वतन्त्रता और मानवीय यथार्थ को भुला देता है। मानवीय यथार्थ चेतनात्मक होने के कारण स्वतन्त्र होता है। फलत नियतिवाद निरर्थक भ्रम है। स्वतन्त्रता ही मनुष्य है तथा अवधारणा अन्य स्वतन्त्रता ही है जिससे उसका संसार से सम्बन्ध स्थापित होता है। सार्त्र इस स्वतन्त्रता को

के अनुसार मृत्यु का मृतभूत गुण उसका निरर्थकता तथा असगति (absurdity) है। सार्त्र हाइडेगर शान्ति से सहमत नहीं है। यह असगत इसलिए है क्योंकि कोई भी व्यक्ति इसका कब्र का अनुमान नहीं लगा सकता केवल अस्पष्ट रूप में इसकी प्रतीक्षा कर सकता है। मैं इसकी योजना नहीं बनाता इसलिए नहीं रहता। अतः यह मेरा सम्भावना नहीं है बल्कि मेरा सब सम्भावनाओं का अन्त है और इस रूप में मेरी सम्भावनाओं के बाहर है। मैं इसका चुनाव नहीं करता। यह अपने आप आता है मेरे द्वारा निर्मित या सर्जित नहीं है। यह मेरे जीवन के लिए भी पूर्णतः निरर्थक है। इसलिए यह असगत है।

चेतना सदैव इच्छा युक्त है जबकि मृत्यु सब इच्छाओं का अन्त। चेतना भावी की आशाएं सजाती है जबकि मृत्यु उनका विनाश करती है। अर्थात् चेतना में ऐसा कुछ भी नहीं है जो मृत्युपरक या तन्मय हो। इसलिए यह मुझसे बाहर है। यह अर्थ में है जो मुझे प्रभावित करती है पर करती है मेरे सम्भावना के संसार को तहस नहस कर डालता है। सार्त्र का यह तर्क कि मृत्यु चेतना से बाहर है कुछ सूक्ष्म है। चेतना को सार्त्र परिमित (finite) मानता है किन्तु मरणशील नहीं मानता। उसके अनुसार चेतना यदि अमर भी हो तो भी—उसके अपने स्वभाव के कारण परिमित हो सकती पर मरण मानना उसमें नहीं है उससे बाहर है। इससे यह सिद्ध होता है कि जीवन—जो कि स्वतन्त्रता और उत्तर है—की बाह्य परिसीमा मृत्यु है। सार्त्र यह शरीर कि तरह है चेतनागम नहीं। सार्त्र के दर्शन में शरीर और चेतना का भी एक स्तर पर अलगाव ग्राह्य है। फलतः सार्त्र बाहर है।

मृत्यु मेरे जीवन या स्वतन्त्रता की परिसीमा भले ही हो मेरे लिए पूर्णतः अग्राह्य रहेगा। मृत्यु तब तक मुझे छू न सकेगी अर्थात् बाधा नहीं डाल सकेगी। मृत्यु नहीं आती है तब तक मैं स्वतन्त्र हूँ मृत्यु के आगमन के बाद मैं न रहूँगा। इसलिए बाधा कैसा?

सार्त्र कहता है कि मैं मरने के लिए स्वतन्त्र नहीं हूँ केवल जीवन में। चेतना में मृत्यु नहीं होती आयत (स्वतन्त्र) ही होता है। इस दृष्टि से सिर्फ सार्त्र का मृत्यु बाद सारा के स्थान का मृत विकृति या पराजय स्वीकृति।

मेरा अर्थ यह स्वतन्त्रता मनुष्य का अनुत्तरदायित्व पूर्ण उत्तरभागी नहीं बनाता बल्कि उसमें चित्र पूर्ण उत्तरदायित्व का अनुभव होता है जिस प्रेरणा

हो गई । नमक निज प्रतिपादन करता है । इस उत्तरदायित्व का मामला यह तक ही सीमित नहीं है पूरे मेरे विश्व का समाहित किए हुए है । अर्थात् मैं मुझसे सम्बद्ध प्रत्येक वस्तु व्यक्ति या घटना के लिए उत्तरदायी हूँ क्योंकि यह विश्व मेरा है मेरे द्वारा अर्पित है मैंने इसका निर्माण किया है, इसलिए इसको ग्रहण करना अर्थात् तत्सम्बद्ध उत्तरदायित्व वहन करना मेरा धर्म है और मेरी प्रामाणिकता है । जो व्यक्ति इस प्रामाणिकता से बचता है वह आत्म प्रवंचक है ।



यह स्वतन्त्र चेतना जैसा कि पहले उल्लेख हो चुका है चेतनायुक्त वस्तु बनना चाहती है । चेतना वस्तु से नकार के द्वारा अलग होती है । किन्तु अभाव होने के कारण वह अलग हो नहीं रह सकती फलतः वह वस्तु को गृहीत करना चाहती है स्वयं अभावपूर्ति के प्रयत्न में वस्तु बनना चाहती है । दूसरे शब्दों में चेतना में अपने गुणों के साथ ही वस्तु के गुणों को प्राप्त करने की प्रवृत्ति दिखाई देती है । यह विषय और विषयी दोनों के समन्वय की असम्भव इच्छा है । यह एकात्म केवल 'ईश्वर' में प्राप्य है और मनुष्य का यह प्रयत्न 'ईश्वर' बनने का प्रयत्न साबित होता है । यह प्रयत्न कर्म रूप धारण करता है ।

चेतना इच्छा रूप है इसलिए इच्छा पूर्ति के लिए यह क्रियाशील रहती है । इच्छा अभाव से उत्पन्न हुई है । अभाव की सम्पूर्ति के लिए चेष्टा पैदा होता है । इस तरह मनुष्य सदा आत्मसात्करण (appropriation) करता है । मनुष्य की प्रत्येक गति वस्तु या अन्य को आत्मसात् करने के लिए उद्दिष्ट है । फलतः प्राप्ति या सम्पूर्ति की इच्छा वस्तुतः वस्तु होने की ही इच्छा है । वस्तु की सत्ता में ही व्यक्ति विश्राम करता है फिर भी वह वस्तु नहीं है और वस्तु को आत्मसात् करना चाहता है । यह क्रिया अनेकविध होती है क्योंकि चेतना में अनेकविध वस्तुएं अर्थात् अपूर्ण रूपों की ही स्थिति है । इसलिए व्यक्ति 'यह' या 'वह' वस्तु विशेष के चुनाव द्वारा अपने विश्व को अधिकृत करने का प्रयास करता है । स्पष्ट है कि इस चाय में वह पूर्णतः स्वतन्त्र है । फलतः व्यक्ति की सत्ता इन वस्तुओं के माध्यम से विश्व को आत्मसात् करने का स्वतन्त्र चुनाव मात्र ही है ।

असमर्थ है फिर भी स्वतन्त्र नियामक और उत्तरदायित्वपूर्ण है। यह अधिकान्त व्यक्ति की स्थिति का कृष्ण पक्ष है व्यक्ति य । भा कत्तायना है पर असफल परिणाम उसका जन्मसिद्ध अधिकार है । स्पष्ट है कि यह भी अन्य प्रकार का रोमांसवाद ही है । यह अधूरे दर्शन अभावात्मक दृष्टि और भावात्मक विद्रोह का आत्यन्तिक फल है ।



७

मार्टिन बूबर

(Martin Bubor)

अस्तित्ववादी दर्शन में बूबर मानव का प्रतिनिधि है। मानव के संसार में अन्य से मेरे का स्वयं या संघर्ष अवश्यम्भावी है। मैं और तुम में सहज सौमनस्य असम्भव है। दोनों के बीच सम्बन्ध एक पराजय तनाव की स्थिति रहती है जिसमें विषयी बने रहने की अभीप्सा और विषय बन जाने की या बना दिये जाने की पारस्परिक आशंका में व्यक्ति संत्रस्त रहता है। व्यक्ति दूसरे व्यक्ति से सतत मुकाबला करता रहता है आन्तरिक तनाव के कारण असफलता और अवनयन में घुलता रहता है और अन्य अर्थात् तुम से स्वाभाविक संयोजन स्नेह का संबंध स्थापित नहीं कर पाता। अन्य व्यक्ति के लिए नरक है।* क्योंकि वह अन्य के मस्तिष्क अर्थात् उसकी विषयी भावना को नहीं समझ सकता। इसलिए सारा संदेह और भय उत्पन्न होते हैं। फिर यह होता है कि व्यक्ति अपने ही संसार में सिकुड़ जाता है अलग हो जाता है। इस पर भी उसे शान्ति नहीं है क्योंकि अन्य की उपस्थिति को वह हटा नहीं सकता। वह अन्य उसके संसार में बलात् प्रवेश करता रहता है। फलतः संघर्ष अनिवार्य है तज्जन्य अशान्ति का भोग उसकी नियति है और इन दुर्भावों के साथ जीवन-यापन उसका भाग है। संक्षेप में मैं और तुम में मित्रता नहीं निरन्तर शत्रुता ही गतिशील रहती है।

मार्टिन बूबर इस मलिन अंधकारमय संसार में आशा की किरणों का प्रकाश प्रकाशित करता है। तुम अर्थात् अन्य में मैं का तादात्म्य भावी

---

* The hell is other people —No exit a play by Sartre

समभुर व्यक्ति सम्बन्ध स्थापित हो सकता है क्योंकि इस तुम का उसकी सज्जता और पवित्रता के साथ में स्वीकार कर इस विषयी (subject) या विषय (objec) में से किसी एक में समेकित कर सकने का समझ में तुम में आन्तरिक रूप से स्वतन्त्र है और न आगे चलकर रूप में तुम का और स्वाभाविक रूप में प्रमाण है। बूबर का मानना है कि यह सद्भावपूर्ण नाता समय होने। सम्भव भी है। इस दृष्टि के कारण से व्यक्ति गत्य का रचना तर्क की विषमता उपजती है जनमानस का होता है।

बूबर किसी सार्वभौम और अमूर्त धारणाओं से विचार प्रारम्भ नहीं करता बल्कि व्यक्ति जीवन में अनुभूयमान व्यक्तिगत सम्बन्धों के विश्लेषण से ही अपने दर्शन का आरम्भ करता है। अन्य अस्तित्ववादियों के समान उसका भी अन्य विषय में तथा समस्याओं में रहने वाला मूल मानव ही है। मानवों में रहने वाले मानव के लिए अनिवार्य है कि वह अन्यों से सम्बन्ध या सम्प्रेषण स्थापित करे। इसलिए बूबर इस सम्प्रेषण की समस्या से ही विचार शुरू करता है। उसकी प्रसिद्ध पुस्तक मैं और तू (I and Thou) में यही समस्या विवेचित हुई है। उसके अनुसार व्यक्ति के दो आधारभूत सम्बन्ध-प्रत्यय से प्रधान वस्तु और जगत में-स्वीकार करता है। पहला है मैं और यह (I It) का और दूसरा मैं और तू (I Thou) का। उसकी धारणा है कि जब भी व्यक्ति मैं का उच्चारण करता है वह स्वयं को अलग-थलग नहीं मान रहा होता है बल्कि दूसरे से या तो वस्तुगत (It) सम्बन्ध स्थापित कर रहा होता है या आन्तरिक व्यक्तिगत (Thou) सम्बन्ध। यह वस्तु का प्रतीक है जो स्वयं (मैं-यह) पर आधारित है। मैं वस्तु से तादात्म्य स्थापित नहीं करता बल्कि उसका उपयोग में ज्ञान या लाभ प्राप्त करता है। फलतः मैं के व्यक्तित्व के बहुत से अंग दबे रह जाते हैं। इनसे उपेक्षित या बहिष्कृत हो जाते हैं। इस तरह मैं का पूर्ण तादात्म्य के अभाव में यह सम्बन्ध वस्तुपरक, एकांगी और बहिर्निष्ठ हो रहता है। वैज्ञानिक का दृष्टिकोण ऐसा ही होता है।

मैं-तू के सम्बन्ध में मैं यह से भिन्न मैं पूर्णतः तल्लीन और सजग होता है। मैं-तू का उच्चारण व्यक्तित्व की सम्पूर्णता या समग्रता के माध्यम से ही हो सकता है। इस सम्बन्ध में व्यक्ति का नियोग और पूर्ण सहयोग अनिवार्य है। यहाँ व्यक्ति दूसरे (तू) में अपने आप वास्तविक प्रमाण का पूरी तरह प्रतिष्ठा करता है। यह वस्तुतः व्यक्तिगत सम्मिलन (a personal meeting) है। यह

सम्मिलन पूर्णतः अनौपचारिक और सहज होता है और इसमें ऐसी आकांक्षा होती है कि मेरे व्यक्तित्व का व्यक्ति के द्वारा पूर्ण प्रतिदान (re ponse) प्राप्त हो सके। [illegible] की अनुभूति होती है जब कि उस प्रतिदान के [illegible] आधार का [illegible] है। [illegible] भी [illegible] सम्मिलन में दूर नहीं जाते अपनी अस्ति-भावना को भूल नहीं [illegible] अस्ति भावना को धारण करते हुए वे प्रेम भाव में सम्बद्ध होते हैं। तू [illegible] उच्चारण के साथ ही उच्चारणकर्ता तू-सापेक्ष [illegible] हो जाता है अर्थात् तू से घनिष्ठतः सम्बद्ध हो जाता है और [illegible] कहता है कि वस्तुतः जीना मिलना ही है।* यह मिलन बहिर्निष्ठ वस्तु के [illegible] नहीं [illegible] आत्मनिष्ठ चेतना के [illegible] पर होता है। मैं जब तू [illegible] सत्तात्मक और सक्रिय चेतना के रूप में व्यवहार करता हूँ तू की चेतना के प्रभाव को ग्रहण करता हुआ उसकी सत्ता में [illegible] अपनी समग्रता का प्रभाव भी [illegible] होता हूँ। मैं इस तू की न तो उपेक्षा करता हूँ और न [illegible] बुद्धि के लिए भी स्थगित हो कर सकता हूँ। क्योंकि मैं स्वयं [illegible] समझना चाहता हूँ और साथ ही साथ इसे भी [illegible] चाहता हूँ। [illegible] है कि इसमें सहज निश्छल और पूर्वाग्रहरहित [illegible] मेरा उद्देश्य स्वयं का [illegible] होना चाहिए और न तू [illegible] प्रकारेण [illegible] हो। [illegible] में ही यह [illegible] सम्मिलन होता है।

यह सम्मिलन [illegible] और [illegible] का होता है। इसलिए अस्तित्ववादी [illegible] के अनुसार है यद्यपि [illegible] अस्तित्ववादियों के मत का विरोध इसमें होता है। [illegible] मनुष्य का जीवन [illegible] और मृत्युपरान्त के दो [illegible] के मध्य झूलता रहता है। बूबर जीवन के इन [illegible] को भी [illegible] स्वीकार नहीं करता। [illegible] अनुसार सम्मिलन त्रिविध है या त्रिस्तरीय है। प्रकृति के साथ जीवन इसका पहला स्तर है जहाँ [illegible] प्रकृति में निर्जीव [illegible] वस्तुगत सम्बन्ध स्थापित नहीं करता बल्कि तू का [illegible] जाता है। प्रकृति की अनुभूति [illegible] होती है [illegible] प्राप्त करता है और [illegible] में प्रकृति के द्वारा भावानुभूति की

---

* All real living is meeting —I and Thou

उत्त जना वह अनुभव करता है। यह संबंध एकांत और एकतरफा (चूंकि प्रकृति निरपेक्ष रहती है) होने के कारण अनुभवयुक्त तो होता है पर अभिव्यक्त नहीं किया जा सकता। स्पष्ट है कि बूबर सार्त्र के विरुद्ध प्रकृति से भी मनुष्य का सामंजस्य स्थापित करता है। इस सम्मिलन का दूसरा स्तर मनुष्य के साथ मनुष्य में दिखाई देता है। इस स्तर पर मनुष्य दूसरे मनुष्य से अपनी बात भाषा के द्वारा प्रकट कर सकता है और उसमें उपयुक्त प्रतिक्रिया उपजा सकता है। यह संबंध दुतरफा होता है। अध्यात्म के साथ जीवन में तीसरा संबंध कल्पित किया गया है। यहां भी व्यक्ति अध्यात्म की अनुभूति करता है जिससे सहजानुभूति और प्रेरणा जाग्रत होती है। यह संबंध एकतरफा तो नहीं होता किंतु यहां दूसरा (अध्यात्म तत्त्व) इतना अधिक महान् होता है कि वह व्यक्ति का सामर्थ्य को पार करता रहता है उसकी वाणी की पकड़ में नहीं आता। फलतः उस संवाद की झांकी ही अभिव्यक्त की जा सकती है।

बूबर व्यक्तिगत संबंधों पर अधिक बल देता है उन्हीं के अध्ययन से अन्य स्तरों की व्याख्या करता है इसलिये यह समझना अत्यन्त आवश्यक है। इन सम्बन्धों का आधार उसके 'तू' की धारणा है। तू और यह का व्याकरणिक आधार है। यह (It) जड़ वस्तुओं या मनुष्येतर प्राणियों के लिये प्रयुक्त होता है जबकि तू मनुष्य के लिए ही सुरक्षित है और अनौपचारिक व्यक्तिगत संबंध की घनिष्ठता का द्योतक है। किसी को 'तू' कहते ही व्यक्ति (तू) अपने प्रकृत प्रिय और सहज (पद मान मर्यादा से वियुक्त) रूप में उपस्थित होता है। प्रकृति भी यदि 'तू' के रूप में अनुभूत होगी तो एक अनिर्वचनीय सजीव व्यक्तित्व लिए हुए अर्थात् मानवीकृत रूप में प्रस्तुत होगी। दूसरी ध्यान योग्य बात यह है कि तू के संबंध में व्यक्ति अपनी समग्रता के साथ प्रकट होता है। उसके भावात्मक और बुद्धिपरक दोनों रूप उसमें समन्वित रहते हैं। बूबर राग के उदाहरण से इसे स्पष्ट करता है। जब हम राग का रसभोग करते हैं तो राग के विधान अंतरा आरोह अवरोह आदि का पारिभाषिक विश्लेषण नहीं करते बल्कि राग की समग्रता की ही अनुभूति करते हैं और उसमें आनन्द प्राप्त करते हैं। उसी प्रकार अन्य व्यक्ति तू से संबोधित होकर अपने समग्र रूप में प्रस्तुत हो जाता है। स्पष्ट है कि परस्पर तू के संबोधन में ही यह संबंध है। यह प्रक्रिया निरन्तर चलती रहनी चाहिए क्योंकि इसका कोई निश्चित रूप नहीं होता और न सदा ही कोई स्थिर निश्चित

रूप है। इस प्रकार अन्य को तू के रूप में अनुभव करने का अर्थ है अन्य मनुष्य को संपूर्णतः जानना।

अन्य से यह तू का सम्बन्ध स्थापित कैसे हो ? बूबर यहां ईसाई धर्म के शब्द अनुकम्पा (grace) का आधार लेता है। यह तू भावी मिलन अनुकम्पा से होता है। उसके अनुसार अनुकम्पा सामान्य दैनिक जीवन में ही क्रियाशील देखी जा सकती है। हम कविता रचते हैं, बुद्धि से कितनी भी चेष्टा करें इसे ग्रहण नहीं कर सकते। किन्तु कभी कविता अपने आप ही कभी स्वयमेव अन्तःस्फुटित हो जाती है। इसी प्रकार नैतिक नियमों का हम सायास पालन करना चाहते हैं पर उसका अनुभव नहीं करते। गांधी की अहिंसा का अनुसरण करना चाहते हैं पर मन में नहीं कर पाते। पर अचानक किसी मित्र के अद्भुत व्यवहार से हम अहिंसक हो जाते हैं। भगवान बुद्ध की आत्म जागृति से भी यही बात समर्थित होती है कि अनुकम्पा से ही अनेक बार कार्य सम्पादित होता है। यह सयोगजन्य होता है। जिसे हम सामान्य जीवन में सयोग कहते हैं उसे बूबर अनुकम्पा मानता है। इस सयोग में यह आवश्यक है कि हम इसके प्रभाव फल या प्रेरणा को प्राप्त करने के लिए उत्सुक हों इसकी दिशा में मार्गोन्मुख बनें। इसके अनिश्चित इस अनुकम्पा को प्राप्त करने के लिए हम प्रयत्न भी करें सफलता मिले इसकी निश्चितता पर ध्यान न देकर। तभी अनुकम्पा प्राप्त हो सकेगी। इस तरह व्यक्तिगत सम्मिलन अनुकम्पा के द्वारा ही साध्य है। इस तू का अवतार भी अनुकम्पा जन्य है सहज है और अनायास है। तू मुझसे मिलता है और मैं भी उससे साथ सम्बद्ध होता हूं। फलतः इस सम्बन्ध में मैं चुनता भी हूं और चुना भी जाता हूं। बूबर अन्य को प्रकृत रूप में ग्रहण करने और मैं का भी प्रकृत रूप में गृहीत होने की क्रिया को 'मैं-तू' की संज्ञा देता है।

बूबर का यह अनुकम्पा कार्य कारण (मूलभूत उद्देश्य और फल) की परम्परा से बद्ध नहीं है क्योंकि इस मिलन में इनका स्थान नहीं रहता। अद्भुत या सहजीवन होता है। यह एक अविचल सम्बन्ध है जो भूत और भविष्य न होकर वर्तमान है जहां कारण और कार्य के लिए अनिवार्य कालानुक्रम की स्थिति नहीं है। दूसरे शब्दों में यह जड़ का सयोग नहीं चेतना का सामंजस्य है। इसके अनिश्चित ईसाई धर्म में कथित अनुकम्पा की निश्चयता (passivity) भी इसमें अप्राप्य है। भगवान की अनुकम्पा पर आश्रित होने से

मैं तू का मिलन होता है। बूबर प्रत्यकता को आत्मा का स्वाभाविक निवृत्ति और व्यक्तिता को आत्मा का स्वाभाविक सम्बन्ध (प्रवृत्ति) मानता है। समाज सापेक्ष प्रत्यकता में चरित्र जाति व्यवसाय बुद्धिमता आदि के गुण समाविष्ट हैं जबकि व्यक्तिता में मैं हूं का भाव ही होता है मैं ऐसा हूं प्रत्यकता है और मैं हूं व्यक्तिता। स्पष्ट है कि व्यक्तिता में मनुष्य सामान्य मानव रहता है इसलिये अन्य से सहज सहृदयतापूर्ण सम्बन्ध निर्मित कर सकता है। मैं तू का मिलन व्यक्तित्व के इसी स्तर पर घटित होता है। यहां प्रत्यकता नष्ट नहीं हो जाती उसका भी मान रहता है पर वह मिलन में बाधक नहीं साधक सिद्ध होता है।



बूबर मैं और तू अर्थात् व्यक्ति और अन्य में संघर्ष नहीं मानता। वे एक दूसरे के पूरक हैं अन्योन्याश्रित हैं। तू के माध्यम से ही मनुष्य मैं बनता है। दूसरे मस्तिष्कों से सम्पर्क से ही हमारे मस्तिष्कों का विकास होता है। दूसरे की उपस्थिति की अपरिहार्यता सार्त्र भी स्वीकार करता है पर वह दूसरे से संघर्ष ही पाता है। बूबर प्रेम से इन्हें बांधता है सार्त्र के समान तोड़ता नहीं। बूबर की प्रेम की परिभाषा ईसाई धर्म सम्मत है। मेरा तू के प्रति उत्तरदायित्व ही प्रेम है। प्रधान दूसरे के सुख दुःख का भागी मैं हूं। यह पड़ोसी से प्रेम करो जैसी सच्ची भावना पर आधृत है। यह प्रेम स्वतःस्फूर्त नहीं दुतरफा होना चाहिए। तभी यह समाज और राजनीति के क्षेत्र में सहायक हो सकता है। आजकी राजनीति प्रत्यकता अथवा समूह के चक्र में फंसा हुआ है। इसमें व्यक्तिता को उपेक्षित किया जा रहा है। यदि व्यक्तिता पर भी ध्यान केन्द्रित किया जाय तो बहुत सा वैमनस्य दूर हो जायगा। व्यक्ति समुदाय एक होगा जिसमें हम (we) की भावना प्रस्फुटित होगी। एक अन्य पुस्तक में बूबर प्रत्यकता (individuality) और समूहवाद (collectivism) में वह आज के समाज की आलोचना करता है कि दोनों दृष्टिकोण (प्रत्यकता और समूहवाद)—चाहे कारणगत और प्रकट रूप में भिन्न हों भिन्न हों—सारत एक ही परिस्थिति की उपज हैं। उनमें फर्क विकास की भिन्न अवस्थाओं का ही अन्तर है। यह परिस्थिति ब्रह्माण्डगत और समाजगत गृहहीनता दिशा और जीवन में भय और अभूतपूर्व एकाकीपन की

अनुभूति में संयुक्त है। आज प्रत्येक मनुष्य मनुष्य के रूप में प्रकृति से कटा हुआ और व्यक्ति के रूप में समूह की भीड़ में अलग हुआ सा महसूस करता है। इस परिस्थिति में उसकी पहली प्रतिक्रिया प्रत्येकतावादी होता है और दूसरा समूहवादी। प्रत्येकतावादी व्यक्ति के अंग को ही ग्रहण कर पाता है जबकि समूहवादी व्यक्ति को एक अंग बना रहता है। इस तरह दोनों समग्र और सम्पूर्ण (whole) मनुष्य की अवहेलना करते हैं। ऐसी परिस्थिति में मनुष्य की समस्या का उत्तर है हम की भावना का विकास। हम उस समुदाय का अभिव्यंजक है जो व्यक्ति अपना स्वत्व (Selfhood) और उत्तरदायित्व को जानते हैं और 'मैं तू' के संबंध में समय समय पर जीवित रहते हैं। सच्चा समुदाय ऐसा आधार पर निर्मित किया जा सकता है। निष्कर्षतः हम 'मैं तू' संबंध सिद्ध व्यक्तियों का समूह है जहां व्यक्तियों की समान भूमिका के कारण 'मैं' की पृथकता के साथ साथ अन्य या समूह में एकान्विति स्थापित की जा सकती है और इस प्रकार एक (व्यक्ति) और अनेक (समाज) के विरोध का समाहार किया जा सकता है।

प्रेम आध्यात्मिक यथार्थ का अनुभूति भी करवाता है। मैं-तू के मिलन में तू मुझे संबोधित करता है तो वह मैं अपनी समान भूमिका में ही परिचित नहीं होता बल्कि तू में स्थित परम तू से भी सम्बद्ध होता है। जिस समय अन्य तू के रूप में प्रकट होता है तो हम यह भूल जाते हैं कि इस तू का नश्वर देशकालगत स्थिति है। चूंकि यह वर्तमान होता है इसलिए इसके माध्यम से मैं परम तू अर्थात् आध्यात्मिक परम सत्य का अनुभूति प्राप्त करता हूं। जब भगवान ही मुझे संबोधित कर रहे हैं और उस मैं 'परे' रहा था रहा हूं क्योंकि वह तू का सम्बोधन मुझमें उभर कर मेरी सत्ता के पार जा रहा होता है। यह परम तू ही संसार के तू का आधार है। इसलिए मैं-तू का सम्बन्ध सामंजस्य पूर्ण और समन्वयकारी बना हुआ है। इसलिए भगवान अर्थात् परम तू मैं के सम्बन्ध या प्रेम का आश्रय है।

इससे बूबर यह निष्कर्ष भी निकालता है कि ईश्वर को अनुभूत किया जा सकता है भाषा के द्वारा अभिव्यक्त नहीं किया जा सकता। अर्थात् ईश्वर को बुद्धिगम्य बनाकर परिभाषित नहीं किया जा सकता। वह व्यक्तिगत अनुभव की सगुण धारणा है। इसलिए बूबर उन लोगों का खंडन करता है जो ईश्वर का अन्य और सांसारिक विषयों में से एक विषय मात्र बना देते हैं। दार्शनिक बूबर ईश्वर

को और सवन कर सकने से उसका विवेचन नहीं कर सकते। ईश्वर तो परम (Absolute) है अतः [illegible] सीमित ज्ञान या बुद्धि से ग्रहण नहीं हो सकता। यह [illegible] का [illegible] ज्ञान है। इसलिए यह [illegible] नहीं है [illegible] है। वस्तुतः धर्म ईश्वर [illegible] के [illegible] है। इसलिए [illegible] में व्यक्ति ईश्वर का [illegible] अभि[illegible] यह उसका [illegible] है।

बुद्ध [illegible] यह [illegible] रहस्यवादी [illegible] है। रहस्यवाद में सब मर्यादाएँ [illegible] [illegible] स्थापित [illegible] है। रहस्यवादी समाधि या [illegible] [illegible] ब्रह्म और स्वयं [illegible] एकता या अद्वैत मानता या अनुभव करता है। [illegible] बुद्ध के अनुसार धार्मिक अनुभव [illegible] भी मैं-तू का पृथक् सत्ता [illegible] है। ईश्वर से व्यक्ति संबद्ध होता है तब भी उनकी पृथक् सत्ता [illegible] है वह मैं-तू के भाव से [illegible] नहीं होता। रहस्यवादी से [illegible] अन्तर यह है कि रहस्यवादी [illegible] संसार—प्रकृति आदि—को माया या भ्रम मात्र मानता है जबकि बुबर प्रकृति को भी यथार्थ मान कर उससे मैं-तू [illegible] [illegible] की बात करता है। यही उसका प्रकृति के साथ जीवन है। [illegible] प्रकार से मनुष्य के दैनिक भौतिक जीवन की उपेक्षा है निवृत्ति है। इसलिए वह [illegible] लोगों के लिए जो [illegible] भौतिक [illegible] पर रहते हैं अनुपयोगी है।

०

बुबर [illegible] में [illegible] वस्तुनिष्ठ [illegible] [illegible] दृष्टिकोण को मैं-यह के [illegible] [illegible] करता है और नष्ट होने [illegible] व्यक्तिगत आत्मनिष्ठ दृष्टिकोण को मैं-तू का संबंध मानता है। [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] विचार आदि पर [illegible] वस्तुपरक [illegible] [illegible] में व्यक्ति का दृष्टिकोण भी [illegible] [illegible] [illegible] है। [illegible] [illegible] व्यक्ति को भी वस्तु समझने [illegible] है [illegible] अपनी स्वार्थसिद्धि [illegible] साधन मात्र। दूसरी ओर [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] व्यक्ति से [illegible] [illegible] है। [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] और [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] व्यक्ति [illegible] [illegible] है। [illegible] [illegible] [illegible] है कि मानवीयता नष्ट [illegible] [illegible] है। इसलिए आवश्यक है कि वस्तुपरक दृष्टिकोण के स्थान पर आत्मनिष्ठ दृष्टि पैदा की जाय

मैन्दू रा मदद स्थापित करन रा मनत प्रयत्न किया जाय जिसम मनुष्यता वा स्थापना ना और पनि ग्राम गान्ति स्वाव पीना सग्राम ग्रादि क नवार दूर ना न य।

स नुन उनर ना स्पान ग्रन्तिवासा नान हुग था मन्त नप वी न ि रा दर ग्रस्तित्ववादियो र विरुद्ध पन्ना है । सम्प्रपण (Communication) । मनस्या का बना मगाक नन य न बवर म प्राप्त हाना है । यूगान वा नमिपद ग्राक पम्परा का उनर नान न कारण बौद्धिकता का भाषा म हा प्रभावित नाना न । न्दर ग्नीतिक्त मन बुद्धा र विमान न उम ननना ि ना निया न कि वह पूरान मन न ना नन नया है । ग्रम नन ग्र ि मनक मावा की स्थिति व प्रति मन पूवग्रन उनमें न ापूण न न नना है स्वर म विश्वाम का ना व न ना नम न य न न ना है । ग मन और ग्रभाव न ग्रन्य मानव समुदाय व निए वूबर का मगन भक्ति उना वह नान सान्त्वना ग्राशा और उत्साह पना व मकता है । गन यूगान ग्रमा वूनर वा मान मुनन वा मुना म है नहा ग्रमा ना व नराग रा पराकाष्ठा पर पहुचना चाहता है ।

८

अतत,

मानव और मानवेतर के द्वैत की समस्या मनुष्य की चेतना को आदिकाल से ही ग्रस्त किये है। जन्म के साथ ही मनुष्य का इतर से मुकाबला होता है।* इतर ऐसा है जो वह नहीं है अर्थात् उससे इतर है, दूसरा है। इतर चाहे प्रकृति के रूप में प्रकट हो अथवा सजीव व्यक्ति के रूप में, एक दरार मैं और इतर के बीच उभर आती है। व्यक्ति देखता है कि वह इतर से अलग है, विजातीय है अथवा असमान है। फिर भी वह विधानतः इसमें, इसमें और इतर साथ रहता है। फलतः वह इसे जानना और समझना चाहता है। क्योंकि सम सम्बद्ध अथवा समन्वित होने की मूल एषणा उसकी चेतना का स्वधर्म है। वस्तुतः वह भिन्न है इसलिए सम्बन्ध के द्वारा अभिन्न होना चाहता है, अनेक में एक होने के लिए सक्रिय रहता है। यह एक प्रकार के सामंजस्य की एषणा है जो कमोवेश हर व्यक्ति के अन्तर में स्फुट या अस्फुट रूप में हमेशा रहती है।

इतर अनेक रूप है। जड़ प्रकृति की विविधता, सजीव प्राणी समूह, पशु, पक्षी, मानव आदि के अनेक विभाग इतर में हैं। व्यक्ति को इतर की पहली प्रतीति इन्द्रियज होती है, अर्थात् स्थूल होती है। इतर अपने भौतिक वैविध्य के साथ उसकी चेतना में प्रकट होता है। यह वैविध्य उसमें बाहरी होने की चेतना उत्पन्न करता है, उसे ग्रस्त कर देता है। इसलिए व्यक्ति इस बाहरीपन

---

* फ्रायड, एरिक फ्राम आदि मनोवैज्ञानिक मनुष्य के जन्म को उसकी प्रकृति विच्छिन्न अवस्था मानते हैं, जिससे जन्म से ही वह अलगाव और रिक्तता में पालित रहता है। तुमाता विश्व में वह विदेशी के समान है।

मनगाव रिसतता, स्व और इतर के बीच खुली गाई को पूरने का अपना स्वभावज नक्रिया के प्रयाग द्वारा भरसक प्रयत्न करता है। इसी प्रयत्न का परिणाम है उसके धम दशन नीति आदि का उद्भव।

इतर को जब वह भावात्मक दृष्टि से देखता है तो इतर का भावात्मक रूप निर्मित होता है। इतर का अनभार होता है अर्थात् अनुभूतिमय रूप। वदिक काल के ऋषियों ने इसी दृष्टि से इतर को हृदयगम किया था और उसके अन मार की सजना की थी। उषा के सौन्दय सुवर्णायित और प्रकाश की अनुभूति से उषा की भावमूर्ति हुई है जो भावधम का सम्बल बनकर देवी बन गई है। सम्भव इतर (प्रकृति या पुरुष) की अनन्तता का सामान्य भावपरक आधार कल्पित कर लिया गया है। इसमे बुद्धि की काट छाट (विश्लेषण) का अव काश हो नहीं है। वस्तु के भाव चतन प्रभाव (अनुभूति) के अनुरूप ही इतर और अहम की एकता-स्थापक सत्ता का प्राकट्य मनुष्य की चेतना म स्वयमेव हो जाता है। इस निर्मिति की प्रक्रिया म वस्तु का प्रभाव उसके प्रति जिज्ञासा या प्रश्न और उसका समाधान – य तीनो भावगत प्रतिक्रिया होते हैं। अत इस प्रक्रिया म धम अत्यन्त क्षाण होता है प्रायश सहज प्राकट्य की स्थिति रहता है। दूसरी बात यह भी तथ्य है कि इसम बहिर्वस्तु अर्थात् इतर का अन्तर्भाव होने म इतर की अनन्तविघ्नता अथवा प्रकृति की अवहेलना की जाती है। उषा पूर्वी क्षितिज म घटित होने वाला भौतिक वृत्ति न होकर अन्तर म प्रादुर्भूत देवी बन जाती है। फलत व्यक्ति मन सापेक्ष इकाई के रूप में सज्जित होती है। मनुष्य की इसी प्रवृति म धम और रहस्यवाद की उत्पत्ति हुई है। धम और रहस्यवाद म बाहर का नकार होना ही है व्यक्ति का भी नकार होता है। यहा दोनो के ऊपर किसी अन्य सत्ता को कल्पित कर लिया जाता है और यह सत्ता व्यक्ति तथा इतर दोनो को नगण्य करती हुई ब्रह्माण्डगत काय व्यापार के लिए उत्तरदायी समझी जाती है। अतिमानसिक ईश्वर (तृतीय) पर आश्रित रहना व्यक्ति को नगण्य बना देता है जबकि रहस्यवाद का अन्त तु पूर्णत आत्मस्थ होने से इतर की अवहेलना ही नहीं करता, स्वभाव व्यक्ति को भी नकारता है। फलत यह सम्बन्ध यहा सम्बन्ध को ही नष्ट कर देता है। व्यक्ति के नगण्य होने ही उससे सम्बन्ध नहीं होता, उसका आस्तित्व अस्वस्थ होता है। क्योंकि सम्बन्ध दोनो का ही होता है।

मनुष्य एक दूसरी प्रकार से भी सम्बद्ध होने का प्रयत्न करता है। इतर

को वह निरपेक्ष भाव से अपनी चेतना में प्रतिष्ठित करता है और अचानक सहजानुभूति या सूझ के द्वारा उस इतर के गूढ़ सूक्ष्म रूप की प्राप्ति हो जाती है। तत्पश्चात् वह उस रूप का बौद्धिक निगमन (deduction) कर लेता है। इस प्रकार इतर के सूक्ष्म और सामान्य रूप की वह स्थापना कर सकता है। इससे इतर का प्रत्यय उत्पन्न होता है। यह प्रत्यय चूंकि सूक्ष्म होता है इसलिए अनेक रूपों को एक में समाहित कर सकता है। अनेकरूपता भौतिक अथवा इन्द्रियाश्रित होती है प्रत्यय बनते ही इस भौतिकता और इन्द्रियाश्रय से वस्तु मुक्त हो जाती है। प्रत्ययवादी दर्शन इसलिए बौद्धिक अधिक है—प्लेटो से लेकर हीगल तक की परम्परा इसे प्रमाणित करती है। यहां भी इतर और व्यक्ति दोनों की उपेक्षा अवहेलना होती है। यहां इतर का अंतर्भाव (प्रत्यय) बौद्धिक रीति से होता है। इसलिए दोनों का सहज और प्रकृत रूप नहीं रहता। व्यक्ति की सजीवता वर्तमानता सम्पूर्णता स्थूलता नष्ट हो जाती है तथा दूसरी ओर इतर इसी प्रकार परिवर्तित सूक्ष्म रूप में गृहीत होता है। एक स्थिर शाश्वत वैचारिक सार सत्ता विकसित होता है चाहे वह प्लेटो का शिव (The Good) हो या हीगल का विश्वात्मा (The world Mind) जिसमें व्यक्ति और इतर की प्रत्ययगत एकता निहित रहती है।

प्रत्ययवादी दर्शन की रीति में बहि का अन्तर्भाव होता है अर्थात् अन्त के दृष्टिकेन्द्र से बहि का रूप निर्धारित किया जाता है उसका सार निकाला जाता है। स्पष्ट है कि यहां अन्त अर्थात् व्यक्ति का सहजानुभूति पर आश्रित बौद्धिक क्रिया से संयुक्त मानस प्रमुख है। दूसरे शब्दों में प्रत्यय की एकता अन्तर्निष्ठ एकता ही है वहिर्निष्ठ नहीं। इसी बौद्धिकता से उत्पन्न वैज्ञानिक दृष्टि में बहिर्भूत इतर प्रमुख हो जाता है। फलतः व्यक्ति और इतर को इतर (बहि) के दृष्टिकेन्द्र से समझा जाता है। वैज्ञानिक का उद्देश्य इसलिए किसी एकता की स्थापना करना नहीं है बल्कि इतर और अहम के शुद्ध बुद्धिनिष्ठ रूप की खोज करना है। यहां सामंजस्य की चेष्टा के स्थान पर वस्तु का 'ज्ञान' प्रधान है। पर यह ज्ञान व्यक्ति निरपेक्ष होता है तथा भौतिक इन्द्रियावलंबित अनेकता की मूल एकता की उपलब्धि तक पहुंचता है। यहां भी सामान्यीकरण और सूक्ष्म विधान उतना ही महत्त्वपूर्ण है जितना प्रत्ययवादी दर्शन में वैज्ञानिक ज्ञान मज का अनुतर्क हो जाता है जिसमें मज मज नहीं रहती बल्कि जीवन निरपेक्ष तत्त्व बन कर नीरस और निर्विशेष हो जाता है। फलतः विज्ञान में भी सूक्ष्म प्रकृत स्तर का विस्फोटन होता है

अर्थात् व्यक्ति और वस्तु दोनों का मूर्त्तीकृत कर उनकी सम्पूर्णता को नष्ट कर दिया जाता है। दूसरी बात यह कि बाह्य के सन्दर्भ में या बहिर्दृष्टि में समझने की चेष्टा की जाती है जिसका परिणाम यह होता है कि प्रत्ययवादी दर्शन के समान यहाँ भी सजीव व्यक्ति निरपेक्ष ही रहता है तथा किसी प्रत्ययबद्ध या नियमबद्ध प्रकृति (Law governed Nature) के सामान्य (Generality) में वह अपनी विशिष्टता व अद्वितीयता (Uniqueness) को खो देता है। बाहर के सन्दर्भ में भीतर को जानने या उसके रूप को निर्धारित करने का वैज्ञानिक प्रयत्न भी सम्बन्ध की सजीवता और सम्पूर्णता में बाधा पहुँचाता है क्योंकि इसमें भी व्यक्ति नगण्य बनता है और व्यक्ति का सारभूत विचार गौण। इसके अतिरिक्त आधुनिक विज्ञान ने विज्ञान के मूलाधार बुद्धि (Rationality) के सम्मुख भी प्रश्नचिह्न लगा दिये हैं।

इस प्रकार धर्म की भावुकता रहस्य की अन्तर्निष्ठता प्रत्ययवाद की नीतिगत व्यवस्था और विज्ञान की बहिर्मुखी सामान्यता—सब में सजीव व्यक्ति और तत्सम्बद्ध स्तर के एकांगी निश्चित निर्जीव और पराश्रित रूप स्थिर होते हैं। इतना निश्चित है व्यक्ति इतना पूर्ण है कि इन एकपक्षी (फलतः अपूर्ण) दृष्टिकोणों की पकड़ में नहीं आता। इनकी व्याख्याओं से बाहर उभरता रहता है। उसकी अपनी विधानगत अस्पष्टता अनिश्चितता और बहुरूपिता के कारण वह इन दृष्टिकोणों के परिवृत्त में बद्ध नहीं होता। क्योंकि ये सब दृष्टिकोण उसके व्यक्तित्व के किसी एक अंग (भाव बुद्धि या सहजानुभूति) से उसका एकांगी प्रत्ययगत रूप स्थापित करते रहे हैं। प्रत्ययवादी दर्शन उसके सम्पूर्ण की भ्रामक कल्पना करता है तो विज्ञान उस कल्पना को स्वप्न से अलग समझते हुए भी उस दिशा में प्रयत्नशील दिखाई देता है। सामाजिक विज्ञानों के आधार पर इस तथ्य को आसानी से समझा जा सकता है। संक्षेप में ये सब दृष्टिकोण व्यक्ति और स्तर को उभय निरपेक्ष वैचारिक धारणा में परिवर्तित करते रहे हैं। फलतः व्यक्ति-जीवन और धारणा में संघर्ष सम्भव होता रहा है।

•

अस्तित्ववाद की उत्पत्ति के मूल में यही सम्बन्ध विधान का स्वाभाविक अर्थात् अपरोक्ष और प्राप्त दृष्टिकोणों (धर्म दर्शन विज्ञानादि) की निरर्थकता

का बोध रहा है। अस्तित्ववाद मूलत ही यह स्वीकार करके चलता है कि व्यक्ति की समुचित परिभाषा नहीं दी जा सकती क्योंकि वह अस्पष्ट ही नहीं स्वतन्त्र और सक्रिय भी है। वह सजीव अनवरगामी अस्तित्व है फलत निश्चित स्थिर और सुग्राह्य नहीं है। इसलिये उसके स्वरूप मात्र का सम्बन्ध में भी कोई निश्चित स्थिर और ग्राह्य रूप नहीं प्राप्त किया जा सकता। पूर्वोक्त दृष्टिकोणों की असफलता और निरर्थकता इस स्पष्टत प्रमाणित करती है। इसलिये आवश्यक है कि व्यक्ति के किसी अन्तिम स्थिर प्रत्ययगत रूप की गम्भीर आकांक्षा से बचा जाय उसे उसके प्रकृत स्वाभाविक और सहज स्पष्ट क्रियाशील रूप में ही ग्रहण किया जाये। फलत उन बौद्धिक और सहजानुभूतिनिष्ठ माध्यमों तथा रीति प्रक्रियाओं का भी परित्याग किया जाये जिनमें व्यक्ति के निश्चित सारभूत अस्तित्व की धारणा उपलब्ध की जाती है। जब हम इस बात को स्वीकार कर लेते हैं कि मनुष्य का अस्तित्व अस्पष्ट और सक्रिय है तब हम यह भी मान लेना पड़ता है कि इस अस्तित्व के इन्द्रियपरक रूप (अर्थात वर्तमान) का बोध ही उसका सत्यस्वरूप है उसके भूत और भविष्य का सम्यकबोध हमारी सामर्थ्य के अतीत है उसके भूत तथा भविष्य का हम अनुमान अवश्य लगा सकते हैं पर अनुमान अनुमान ही होता है सत्यज्ञान नहीं। क्योंकि मनुष्य की अस्पष्टता और सक्रियता को स्पष्ट (एकांगी) और निष्क्रिय (स्थिर) बनाने से ही अनुमित स्वरूप निर्मित होता है। स्पष्ट है कि मनुष्य की अस्तित्वगत अस्पष्टता तथा सक्रियता आरोपित स्पष्टता और निष्क्रियता में उद्भूत अनुमान को गलत सिद्ध कर देगी। इसी तथ्य को लक्षित कर अस्तित्ववादी विचारक आगमन निगमनपरक बौद्धिक पद्धति के स्थान पर वर्णन (इन्द्रियविषय-वर्णन पद्धति) पर बल देते हैं। इस प्रकार ये बुद्धि (rationality) की सर्वकारिता को अस्वीकार करते हैं।

अस्तित्व की अस्पष्टता और सक्रियता का अर्थ है सम्भावना। यह सम्भावना भविष्य में घटनेवाला नियमनाश्रित घटना या निश्चित रूप नहीं है बल्कि कुछ भी हो सकने की सामर्थ्य है। फलत यह वैज्ञानिक के भविष्यकथन (Prediction) की सीमा में नहीं आती। मनुष्य के बारे में यह नहीं कहा जा सकता कि विशेष सामान्य परिस्थिति में वह उसी विशेष सामान्य प्रकार से व्यवहार करेगा जैसा वैज्ञानिक जल के विषय में कह सकता है कि सामान्य शीत तापमान में जल सामान्य विकार वाष्प में परिवर्तित हो जायेगा। इसमें

यह सिद्ध हुआ कि मनुष्य की सम्भावना वैज्ञानिक सम्भावना के समान नियम शासित नहीं है प्रत्युत स्वतन्त्र है। निष्कर्षतः मनुष्य सक्रिय है इसलिए सम्भावना युक्त है और इसलिए वह स्वतन्त्र भी है चूंकि वह स्वतन्त्र है परिणामस्वरूप भौतिक और प्रत्ययगत सामान्यीकरण (generality) अथवा स्थिर समष्टिगत मानव प्रकृति (Human nature) में भी बद्ध नहीं है। अतः वह व्यक्तिगत स्वतन्त्रता से युक्त है और तत्सम्बद्ध कार्यों और परिणामों के लिए स्वयं उत्तरदायी भी।* इसी व्यक्तिगतता की सघन अनुभूति के कारण अस्तित्ववादी तत्त्व-मीमांसक हीगल और कांट के मार्गों का अस्वीकार करते हैं और वस्तुव्याप्त अनेकता को स्वीकार करते हैं। अनेकता के स्वीकार का मतलब है स्तर में अलगाव विच्छिन्नता और अस्तित्व की एकाकीनता की स्वीकृति तथा तत्सम्बन्धों का नव सर्जन। इस तरह अस्तित्ववादी स्तर में अलगाव पर आश्रित हैं और अपने आत्यंतिक रूप में (उदाहरणार्थ मात्र में) मनुष्य के स्वयं में (मन और शरीर) अलगाव को भी मूलभूत मानता है और इस अलगाव के प्रत्ययवादी अथवा बौद्धिक विधान प्राप्त समाधानों का अस्वीकार करता है। तथ्य और तर्काधीन वस्तुपरक मूल्यों को भी इसलिए इसमें निराकृत किया गया है। व्यक्ति स्वतन्त्र होने के कारण स्वयं मूल्य निर्माता है हाइडेगर के अतिरिक्त सब विचारक इस मत से सहमत हैं।

अस्तित्ववादी सामान्य मानव प्रकृति को भ्रम समझता है वह मनुष्य के स्थूल सजीव और दैनिक अस्तित्व को अधिक महत्त्व देता है। दैनिक जीवन में व्यक्ति स्वयं को स्तर में बद्ध भी पाता है और उससे स्वतन्त्र भी। इस दुविधा की स्थिति में उसके अस्तित्व में आन्तर अनेक भय अशान्ति उदासीनता ऊब मार्मिक भाव जागृत होते हैं जो उपेक्ष्य न होकर ध्यातव्य हैं। क्योंकि इन्हीं के द्वारा वह जीता है। किन्हीं धर्म दर्शन नीति आदि के सामान्य नियमों के आधार पर यदि वह इनकी उपेक्षा करे तो आत्म प्रवंचना पूर्ण और अप्रमाणिक जीवन-यापन करेगा। अस्तित्ववादी इस परम्परागत समाविष्ट सामान्य जीवन पद्धति का निरास करके व्यक्तिनिष्ठ प्रामाणिकता को स्थापित करने का कठिन प्रयत्न है। इसमें स्वतन्त्रता की स्वीकृति है व्यक्ति

* स्वतन्त्रता में नियमपालन की अस्वीकृति है। इसलिए किसी कार्य या फल के लिए नियम (स्तर परम्परा) को उत्तरदायी नहीं ठहराया जा सकता।

को उस अनेकता में रहना पड़ेगा उससे सम्बद्ध होना पड़ेगा। यह सम्बन्ध रागात्मक (यास्पर्स बूबर) हो सकता है और द्वन्द्वात्मक (सार्त्र) भी। बौद्धिक दृष्टि से यह सम्बन्ध सामान्य न होने से असंगत (absurd) होता है।

संक्षेप में अस्तित्ववाद शाश्वत सामान्य और वैचारिक (मनुष्यविषयक) धारणाओं को अस्वीकार करता है। इसी के साथ साथ वैज्ञानिक वस्तुपरकता तथा वैज्ञानिक पद्धति को भी अनुपयोगी मानता है अर्थात् बुद्धि या विवेक (reason) की सर्वसामर्थ्य का अस्वीकार कर असंगति का स्वीकार करता है। अनेक की सत्ता के स्वीकार द्वारा व्यक्ति को प्रधानता देता है यह व्यक्ति स्वतन्त्र, वरणधर्मी मूल्य सर्जक सम्बन्ध विधायक और उत्तरदायी व्यक्ति है जिसकी आकांक्षा सर्वसामान्य समाधान प्रस्तुत करने की नहीं है बल्कि प्रामाणिकता प्राप्त करने की है। यह सुखदुख से मिश्रित व्यक्ति सांसारिक व्यावहारिक और साधारण सजीव अस्तित्व है। इतर से अपने अस्तित्व की सम्पूर्णता के साथ व्यंगित सबंध विधान इसकी नियति है चाहे यह सम्बन्ध मैं–तू (बूबर का सद्भाव युक्त हो अथवा मैं × अ य' (सार्त्र) का द्वन्द्व भावी।



अस्तित्ववाद के उद्भव के लिए प्राय युरोप का युद्धोत्तर विपन्न विशृंखल और विघटित मानव अवस्था को उत्तरदायी समझा जाता रहा है। युद्ध अविवेकज पाशविक वृत्ति का परिणाम सिद्ध हुआ जिससे युरोपिय व्यक्ति की बुद्धि-श्रद्धा विज्ञान की कल्याण कारिता मानव उन्नति आदि की धारणाएं ध्वस्त हो गई। परिणामत अस्तित्ववाद जैसा व्यक्ति-परक आत्मनिष्ठ दर्शन का जन्म हुआ जिसमें युद्धप्रसूत अनिश्चय भय मृत्यु बोध संकट व्यक्ति निष्ठता आदि भाव प्रतिबिम्बित हैं स्थूलत बाहरी स्तर पर यह बात ठीक भी है किन्तु सूक्ष्म दार्शनिक स्तर पर यह सम्पूर्ण सत्य नहीं है। क्योंकि यह अस्तित्ववाद के प्रचार प्रसार अथवा लोकप्रियता का स्पष्टीकरण ही करती है इसके उद्भव के मूल कारणों का ज्ञान नहीं देता।

वस्तुत अस्तित्ववाद सामान्य (general) के विरुद्ध विशेष (particular) का विद्रोह है। यह सत्य है कि यह विशेष विशिष्ट कारणों से इस सदी में अधिक मुखर हुआ है किन्तु दर्शन चिन्ता के प्रारम्भ से ही यह यदाकदा अपना सिर उठाता रहा है। प्लेटो के सामान्य के प्रति निष्ठा का भाव प्लेटो के संवादों

में ही प्राप्त होता है। हेरेक्लिटस जिसका आधुनिक रूप बर्गसाँ का दर्शन है का प्रवाह (Flux) प्रकारान्तर से अस्पष्टता और अस्थिरता की स्वीकृति और सामान्य का अस्वीकार है। असल में सामान्य विषय और विषयी के द्वैत का समाहार है। दूसरे स्तर पर यह विषयों और विषयियों की विशेषताओं को समतल कर एकता स्थापित करने का प्रयत्न करता है। प्रत्ययवादी दर्शन और विज्ञान दोनों में इस प्रक्रियागत सामान्य का सर्वोपरि स्थान रहा है। हीगल के विश्वात्मा और विज्ञान के अणु में कोई मूलभूत प्रक्रिया और निष्कर्षगत अन्तर नहीं है।* दोनों ही विशिष्ट की उपेक्षा कर सूक्ष्म और पृथक सामान्य की स्थापना करते हैं चाहे इस सामान्य में व्यक्ति आत्मा (प्रत्ययवादी) केन्द्रस्थ हो या बहिर्व्याप्त पदार्थ (विज्ञान)। धर्म के क्षेत्र में भी ईश्वरीय सामान्य की प्रभुता द्रष्टव्य है। ईसाई धर्म का प्रारम्भिक ईश्वर श्रद्धाश्रित भावमय इकाई था किन्तु मध्यकाल में टामस एक्वीनाज के प्रभाव से वह अरिस्टाटेलियन सार या धारणा बन गया था। व्यक्तिगत ईश्वर के गुण क्रमशः क्षीण हो गये थे। इसके साथ साथ चर्च के बौद्धिकीकरण और संस्थागत अधिकार के कारण भी एक इस प्रकार के सामान्य की स्थापना हुई कि व्यक्ति तुच्छ नगण्य और काठवत बना दिया गया था। पश्चिमी समाज-व्यवस्था के निर्माण में इन तीनों तत्वों का ही योगदान रहा है। फलतः सामाजिक स्तर पर भी सामान्य की प्रतिष्ठा हुई जिसके परिणाम स्वरूप विशिष्ट व्यक्ति एक उपकरण या समाज-यन्त्र के एक अंग में परिवर्तित होता गया और हो रहा है।

इस सर्वग्रासीय सामान्य के चंगुल से छुटकारा प्राप्त करने और व्यक्ति सत्ता की पुनर्प्रतिष्ठा करने की आकांक्षा का परिणाम है अस्तित्ववाद का आविर्भाव। कीर्केगार्द द्वारा अस्तित्व शब्द के प्रचलन और विशेषार्थी प्रयोग से पूर्व पास्कल (Pascal) और आगस्टाइन (Augustine) में इस सामान्य का भावात्मक विरोध प्राप्त होता है। कीर्केगार्द में यह अत्यन्त प्रबल भावावेग के रूप में प्रकट हुआ है। कीर्केगार्द ने प्रत्ययवादी दर्शन (हीगल) विज्ञान और धर्म (चर्च) तीनों स्तरों पर विद्रोह किया और विषयीभाव (subjectivity)

* प्रत्ययवाद में निगमन (deduction) का प्रयोग होता है जबकि विज्ञान में आगमन (Induction) का।

की सबल स्थापना की है। यास्पर्स मार्सेल सार्त्र हुसर्ल आदि सब अस्तित्ववादी इस अनेक रूप सामान्य का विरोध करते हैं और व्यक्ति सत्ता के महत्त्व का प्रतिपादन।

बीसवीं सदी में यह अधिक लोकप्रिय हुआ है। पास्कल, नीत्शे, कार्केगार्द, दोस्तोवस्की आदि की विचार प्रवृत्ति अस्तित्ववादी होते हुए भी अपने समय को प्रभावित नहीं कर सकी थी। प्रत्ययवादी दर्शन के प्रामुख्य और विज्ञानाश्रित मानवतावाद के प्रबोधयुगीन आदर्शों के कारण उस युग को अस्तित्ववादी यथार्थ मानव अयथार्थ लगा था। किन्तु बीसवीं सदी में प्रत्ययवादी धर्म और मानवतावाद के अप्रामुख्य से इसको सर्वप्रमुख माना जाने लगा है। आज के पश्चिमी (विशेषतः योरोपीय) व्यक्ति की स्थिति के पर्यवेक्षण से यह बात अधिक सफलता से समझ में आयेगी।

यह निर्विवाद है कि विज्ञान के विकास ने पश्चिम में अभूतपूर्व उथलपुथल मचाई है। विज्ञान से उस प्रबोधयुगीन मानववाद या उदारतावादी ऐतिहासिक दृष्टिकोण का जन्म हुआ जिसमें व्यक्ति के महत्त्व की स्थापना बहिर्व्याप्ति पदार्थ के सन्दर्भ में हुई। प्रकृति विजित है जाना जा सकती है पदार्थ ही सत्य है आदि वैज्ञानिक उपलब्धिजन्य धारणाओं ने व्यक्ति को आशावान तो अवश्य किया कुछ अंश तक विशिष्ट के महत्त्व की स्थापना भी की किन्तु अन्ततः उसे प्रकृति के सामान्य का एक अंग ही स्थिर किया। यह मानवतावादी दृष्टि धीरे धीरे विषयगत अर्थात् मात्रात्मक होता गया। इसी भावभूमि से हमारा प्रजातन्त्र की राजनीतिक व्यवस्था में यह बात सिद्ध होती है। व्यवस्था का राज्य विषयगत वस्तुपरक (objective) बहुमतता का ही राज्य है व्यक्ति का नहीं। हाथ उठाने में (vote) जब राय बात तय होती है तो वहाँ व्यक्तिगत विवेक आत्मा और नैतिक अनुभूति की उपेक्षा होना अनिवार्य है। इस तरह प्रजातन्त्र की राज्य व्यवस्था भी व्यक्ति लोपक ही सिद्ध होती है फासिज्म नाजिज्म और मार्क्सिज्म की व्यवस्थाओं में तो यह होना अत्यन्त स्वाभाविक है ही। सामाजिक स्तर पर विज्ञान का बड़ा विघटनकारी प्रभाव पड़ा है। यन्त्र उद्योग और नगरीकरण की उत्तरोत्तर उन्नति से कृषिप्रधान पारिवारिक भावात्मक दृष्टि खण्डित हो चुका है जिसका कुप्रभाव परिवार और यौन नाना चेतना के सम्बन्धों पर पड़ा है। यन्त्र ने मनुष्य को बुद्धिरहित पुर्जा बना दिया है उद्योग ने उसे आर्थिक सिद्ध किया है और नगरीकरण ने

उसमें बाजारू सम्बन्ध भावना (Market re'ations) उत्पन्न की है। आदर्श मूल्यों के विनाश के साथ स्वपक्ष शक्ति मापक मूल्यों की स्थापना हुई है और ये मूल्य अधिकाधिक (पूर्वोक्त यन्त्र आदि के विकास के कारण) अब वर्ग और स्थूल नेतृत्व तक सीमित रह गये हैं। फलतः मनुष्य की भावात्मक परस्परावलम्बन की वृत्ति निर्जीव (atrophied) होती जा रही है। वस्तुतः यन्त्र मनुष्य में मनुष्यत्व को नष्ट करता जा रहा है। बटन दबाते ही मशीन के चालू होने से उसकी शारीरिक शक्ति उपेक्षित हो गई है और विज्ञान निर्मित कम्प्यूटर के आविष्कार से उसकी बुद्धि की महत्ता भी नष्ट होने वाली है। इसी अमानवीयता को लक्ष्य कर एरिकफ्राम (Eric Fromm) ने कहा है कि उन्नीसवीं शती में ईश्वर मरा था बीसवीं शती में मनुष्य ही मर गया है। स्पष्ट है कि जो यन्त्र मनुष्य का दास था आज स्वामी हो गया है। फलतः सुखादि के स्थान प्रेम भावों का आलम्बन न होकर भय घृणा निरर्थकता आदि की अनुभूति का जन्मदाता बन गया है। दूसरी तरफ इसी वैज्ञानिक यन्त्र का परिणाम है सर्वसंहारी आणविक अस्त्र जो मनुष्यों को कीड़े मकोड़े के समान मार डालते हैं। उसकी मृत्यु भी मानवीय न रही। विश्व-युद्धों की दुर्घटनाएं वैज्ञानिक विकास की सहायकारिता को प्रमाणित न कर विज्ञानात्मक बुद्धि-श्रद्धा और मानवतावाद को भी निरर्थक सिद्ध करती हैं। युद्ध मनुष्य के अविवेक पाशविकता और आसुरी वृत्तियों का परिणाम है। मनुष्य विवेकशील नहीं है यह पीड़ादायक प्रतीति 'प्रवृत्ति' की पुनर्प्रतिष्ठा की मांग करती है तथा यह भी प्रमाणित करता है कि मनुष्य भविष्यकथनीय (Predictable) नहीं है। वह स्वतन्त्र है आवश्यकता (Necessity or determinism) का पुतला नहीं है।

स्पष्ट है कि युद्ध जनित पीड़ा मृत्यु बोध नग्नता निरर्थकता अलगावजन्यता आदि के नजारों का समाधान अस्तित्ववाद में हुआ है पर इस दृष्टि तक सीमित मान लेना न्यायसंगत नहीं है। अस्तित्ववाद रोमाण्टिक मानवतावादी की तरह जीवन के गुलाबी पक्ष का ही नहीं अपितु उसके कृष्ण पक्ष की उपस्थिति को भी स्वीकार करता है। किन्तु इसके साथ ही साथ वह व्यक्ति के महत्त्व उसकी स्वतन्त्रता उत्तरदायित्व स्वातन्त्र्य चुनाव की गरिमा आदि व्यक्ति प्रतिष्ठापरक गुणों का सबल समर्थन करता है। प्रकारान्तर से यह अतन कृष्ण पक्ष के प्रति भी विद्रोह करता है। सम्प्रति भारत में उद्भूत व्यक्तिगत प्रामाणिक जीवन

की प्रतिष्ठा इसका उद्देश्य है। सूक्ष्मतः प्रश्न देखा॰ मानववादात्मक ही है जिसमें प्रबोधयुगीन भ्रमाश्रित भावुकता नहीं है। अर्थात् तक अस्तित्ववादियों में व्यक्ति प्रतिष्ठा पर अत्यधिक बल दिये जाने में वह फिर एक अलगाव का शिकार अवश्य हो गया है पर रक्ति क म त्व की स्थापना इसने शुरू से हो रही है।

संक्षेप में कहे तो अस्तित्ववाद सजीव जीवन का धारणा (Idea) के प्रति व्यक्तिगत धर्म का संस्थागत धर्म के प्रति प्रत्यक्ष सद्यानुभव का सूक्ष्म बुद्धि विचार के प्रति, व्यक्ति चेतना का समूह योजना के प्रति सम्पूर्ण का अलगाव के प्रति मानव स्वातन्त्र्य का भौतिक नियति (determinism) के प्रति दर्शन का विज्ञान के प्रति अनेकविध विद्रोह है जिसे सूत्रात्मक ढंग से हम विशिष्ट का सामान्य के प्रति विद्रोह कह सकते हैं।



क्या अस्तित्ववाद खण्डित सत्रस्त और भयाकुल आधुनिक पश्चिमी व्यक्ति का स्वास्थ्य प्रदान कर सका है या कर सकता है? आधुनिक व्यक्ति की पीडा के स्थूलत दो कारण हैं —(१) अलगाव और (२) समूह या वस्तु तत्त्व में समाहित होती हुई उसकी आत्मसत्ता या मानवीयता। इन दोनों के विष से उसकी चेतना स्नायु निष्क्रिय और किंकर्त्तव्यविमूढ हो गई है। वह अनिश्चय विसगति दुविधा और शका के कुहरे में कोई आधार टटोल रहा प्रतीत होता है। क्या अस्तित्ववादी दर्शन में इसका कोई उपचार दिखाई देता है?

जहा तक अलगाव का समस्या का प्रश्न है मुझे नहीं लगता कि अस्तित्ववाद कोई निश्चित सुस्पष्ट तथा आशापूर्ण समाधान प्रस्तुत करता है। सार्त्र और कामू जैसे निरीश्वरवादी अस्तित्ववादियों में तो यह अलगाव अपनी चरम सीमा पर दिखाई देता है। ईश्वर में विश्वास का असंगतियुक्त (absurd) सबंध है अर्थात् यह अबोधगम्य अनन्वय और अविश्लेष्य है। ईश्वर (प्रकृति) और आत्म (मस्तिष्क) पूर्णत विरुद्धधर्मी हैं। ईश्वर मर चुका है प्रत्यय (Ideas *or essences*) भ्रम है विज्ञान सूक्ष्म सामान्य ज्ञान में सजीव ब्रह्म के लिए अनावश्यक है—इस भावभूमि के आधार पर सार्त्र ईश्वर और ब्रह्म में असाध्य विभेद स्थापित करता है। इसलिए दोनों में नकार का नाता ही हो सकता

है। यह न मानी नाना स्वभावत इनमें संघर्ष या द्वन्द्व उत्पन्न करता है। परिणामस्वरूप व्यक्ति और वस्तु का अलगाव मृत्युपर्यन्त रहेगा। इतना ही नहीं सार्त्र व्यक्ति को अन्य व्यक्तियों से भी हमेशा के लिए 'अलग' देखता है। जैसा पहले सार्त्र पर विचार करते समय स्पष्ट किया जा चुका है कि सार्त्र का व्यक्ति देकार्तीय विषयी विषय द्वन्द्व का विषयी (Subject) है जो अन्य को विषय रूप (object) में ही ग्रहण करता है जबकि अन्य व्यक्ति भी चेतन होने के कारण पूर्णतः विषय नहीं है। इसलिए संघर्ष अवश्यम्भावी है। सार्त्र में यह अलगाव चरमावस्था प्राप्त करता है क्योंकि यहाँ व्यक्ति के शरीर तथा मस्तिष्क में ही नहीं स्वयं चेतना (मस्तिष्क) में भी विषयी विषयात्मक विभाजन स्वीकार कर लिया गया है। कीर्कगार्ड जो विषयी भाव को ही अपना प्रमाण मानता था भी इस अलगाव की समस्या का कोई निश्चित समाधान नहीं दे सका है यद्यपि उसके दर्शन में मनुष्य और ईश्वर के अलगाव पर अधिक बल दिया गया है। ईश्वर और व्यक्ति में क्षणिक सामंजस्य स्थापित भी होता है किन्तु फिर वही अलगाव पुनः जी उठता है। इसीलिए वह बार बार 'पुनरावृत्ति' की बात कहता है। वस्तु और व्यक्ति चेतना में सामंजस्य तो विषयी भाव ही को प्रामाणिक मानने वाले दर्शन में अकल्प्य ही है। यास्पर्स और बूबर में भावात्मक स्तर पर प्रेम के द्वारा सामंजस्य स्थापित करने का प्रयत्न द्रष्टव्य है किन्तु यह भी अनिश्चित अस्थिर और मेलाभासमय होने के कारण सृजन और कार्य का आधार नहीं बन सकता है। यह भावात्मक अनुभूति मात्र रह जाता है जिसमें द्वैष या संघर्ष तो नहीं होता पर सम्पूर्ण समन्वय न होने से निर्माणक शक्ति का जागरूकता भी अनुपस्थित हो रहता है। यह हम असहमत होने के लिए सहमत हैं जैसी स्थिति प्रतीत होती है। हेडेगर में अवश्य 'भू' की धारणा के द्वारा सामंजस्य की निर्मिति हुई है। पर यह सामंजस्य भी आज के व्यक्ति के लिए समाधान रूप नहीं हो सकता क्योंकि हेडेगर भू की पुनस्मृति (recall) की बात करता है पर यह पुनस्मृति कैसे हो ? के विषय में मौन रहता है। इस तरह अस्तित्ववाद इस क्षेत्र में असफल सिद्ध हुआ है और इसके सफल सिद्ध होने की सम्भावना भी नहीं है। क्योंकि इसमें इतर के मूल्य पर व्यक्ति (अहम्) को अधिक महत्त्व दिया गया है।

वस्तुतः अलगाव का समाधान अस्तित्ववाद में इसलिए नहीं है क्योंकि

इसम समस्या के रूप म अन्तगत प्रमुख नही है सामान्यता सामूहिकता या वस्तुपरकता की अतिव्याप्ति का सकट प्रमुख है। यह अस्तित्व सकट का दशन है जो बनानिक मशीन की भौतिकता राज्य की वायवी नियम शक्ति उद्योग की अमानवीयता समाज का सामूहिकता और युद्ध की पाशविकता के प्रतिरोध का सजग प्रयत्न करता है। इसलिए इसम यक्ति को बलपूवक सर्वाधिक गण्यतम और महत्वपूण माना गया है जिसका परोक्ष प्रतिफल यह हुआ है कि व्यक्ति और भी अलग अकेला और आत्मनिष्ठ बनता गया है।

सामूहिकता से बचाव का रास्ता है उसस सम्पूण मुक्ति अथात् व्यक्ति की स्वतत्रता की सबल स्थापना। सब अस्तित्ववादियो म यक्ति की स्वतत्रता स्वीकृत हुई है। व्यक्ति चतना स्वतत्र है क्योकि व्यक्ति चुनाव करता है। चुनाव की क्रिया किसी कायकारण परम्परा स बद्ध नही है। चुनाव व्यक्ति चतना की स्वतत्रता को प्रमाणित करता है और स्वतत्रता चुनाव की सभावना का आधार निर्मित करती है। मनुष्य स्वतत्र है इसी कारण स वह चुनाव कर सकता है अर्थात नियति और कायकारण के नियमन स अतीत हो सकता है। कीर्केगार्द स लेकर बूबर तक सब चर्चित विचारक व्यक्ति चेतना के स्वातन्त्र्य पर बल देते ह। इस स्वतत्रता का म वाविष्ट धार्मिक रूप कीर्केगार्द और नीत्शे म प्राप्त होता है तो बौद्धिक विश्लेषण हेडेगर और सात्र म। सात्र म यह चरमसीमा तक पहुच चुकी है। रूसो आदि रोमटिक विचारको का प्रदाय ही यह व्यक्ति स्वतत्रता है जिसको अस्तित्ववाद म तत्त्वविद्यागत तत्त्व का रूप दे दिया गया है। सात्र रूसो के समान मानता है कि मनुष्य जन्म स ही स्वतत्र है पर वह रूसो की दूसरी बात कि वह सवत्र स्थान पर बद्ध भी है का अस्वीकार करता है। मनुष्य स्वतत्र है अथात् समूह के विचार परम्परा नियम और व्यवस्था स बद्ध नही है। वह व्यवस्था म उत्पन्न होता है किन्तु अपनी उस यवस्था को पुनर्निर्मित कर स्वय की यवस्था स्थापित करता है। इसी चतना की स्वतत्रता की बौद्धिक माग है चतना का अवस्तुता या कुछ नही होना। कुछ या वस्तु होते ही चतना उस कुछ या वस्तु स सचालित प्रभावित नियमित और बद्ध हो जाता है। इसलिए इस बधन का हटाने के लिए चेतना का अवस्तु (Nothing) के रूप म धारणा तार्किक अनिवायता है। कुछ न होने का परिणामत स्वतत्र है अथात् मनुष्य चतना की कोई प्रस्तुत निश्चित प्रकृति परिभाषा या सारता नही है। व्यक्ति अपनी प्रकृति परिभाषा या

धारणा का निर्माण स्वयं — वस्तु के सम्पर्क में — करता है जो अन्तिम नहीं होता। अनिर्णय और अनिश्चय-ग्रस्त होने में यह किसी भी स्थूल और सूक्ष्म बंधन से सीमित नहीं हो सकता। इसलिए यह अपनी निर्मिति अर्थात् उद्देश्यों मूल्यों और स्वसंचित व्यवस्थाओं को भी अनिरस्त करता रहता है। इस क्रिया में उसका कोई अनिवार्य बंधन या वस्तुगत सीमा नहीं है न देश का व्यवधान न काल का प्रतिरोध और न मूल्य-विचार की अनिवार्यता। व्यक्ति स्वयं इन का स्वीकार करता है यह उसका स्वतन्त्र चुनाव है। वह काल का उत्पन्न करता है।* इसकी चेतना में पूर्व प्रदत्त कोई मूल्य नहीं होते और न कोई प्रत्यय ही होते हैं। ये मूल्य और प्रत्यय उसकी चेतना से ही समय समय पर उद्भूत होते हैं फलतः मनुष्य की सामर्थ्य के कारण वह इतना स्वतन्त्र है इन मूल्यों की अवधारणा स्वतन्त्र स्थिति ही है।

मनुष्य इस स्वतन्त्रता से बच नहीं सकता। सार्त्र की भाषा में वह स्वतन्त्र होने के लिए अभिशप्त है। इस संसार में उसे कुछ न कुछ करना ही पड़ता है चुनाव नहीं करने का निश्चय भी चुनाव ही है। अर्थात् स्व स्वतन्त्रता का प्रयोग है। कायर व्यक्ति होने में वीरता और कायरता में कायरता को चुनते हैं। फलतः यह स्वतन्त्रता व्यक्ति के सम्पूर्ण कार्य व्यवहार में क्रियाशील है सामान्य तत्त्व के रूप में नहीं व्यक्तिगत चयन-क्रिया के रूप में। स्पष्ट है कि व्यक्ति इस स्वतन्त्रता के कारण वस्तु परिवेश अन्य और शरीर से कटता है विच्छिन्न होता है अकेला बनता है। अर्थात् अन्तराल सदा ही उत्पन्न हो जाता है। सार्त्र और कामू इस अन्तराल को स्वाभाविक मान कर स्वीकार करते हैं। इसलिए व्यक्ति की पीड़ा आतंक संत्रास और क्षणिकता को स्वीकार करते हैं।

पर क्या व्यक्ति की स्वतन्त्रता इतनी आत्यन्तिक और परम है? क्या ऐसा नहीं लगता कि स्वतन्त्रता इस रूप में सजीव व्यक्ति की अनुभूति और क्रिया न होकर एक वायवी धारणा मात्र रह जाती है? सार्त्र कहता है कि न चुनना भी चुनना है अर्थात् स्वतन्त्रता है तो फिर 'न चुनना' और 'चुनना' क्या एक ही है? फिर परतन्त्रता और स्वतन्त्रता में भेद क्या है? क्या न चुनना परतन्त्रता नहीं है? व्यक्ति चुनता है स्वतन्त्रता के कारण और न चुनने को भी 'चुनना' है इसी स्वतन्त्रता के कारण। सार्त्र बुद्धि विरोध

---

* सार्त्र विषयक अध्याय में यह बात सविस्तर विवेचित हो चुकी है।

करते हुए भी बुद्धिगत प्रत्यय की स्थापना कर रहा है । सामान्य व्यक्ति नही चुनने का कार्य अपनी स्वतन्त्रता के कारण नहीं करता अपितु अनेक विवशता सूचक कारणों से करता है । जिस सामान्य के प्रति सार्त्र विद्रोह करता है उसी सामान्य स्वतन्त्रता की वह स्थापना करता सा लगता है । यह निरपेक्ष स्वतन्त्रता एक भ्रमात्मक विचार मात्र प्रतीत होता है । इसमें तार्किक असंगति भी प्रतीत होती है । थोड़ा गहन विचार करें । सार्त्र चेतनाओं की अनन्तता मानता है क्योंकि व्यक्ति अनेक हैं । इसलिए इन चेतनाओं का सर्जन कार्य निर्मिति या विश्व भी अनेक है भिन्न है फलतः द्वन्द्वात्मक है पर ऐसा क्या है ? सार्त्र की चेतनाएं मूलतः अहरन्ति हैं इसका मतलब होना चाहिए कि अनेकश स्थित होते हुए भी इनमें मूलभूत समानता है । क्योंकि असमानता तो जैसा वह स्वयं स्वीकार करता है अन्य … से उत्पन्न होती है । यदि वंश परम्परा संस्कार वृत्ति परिवेश आदि किसी का भी बन्धन उस चेतना में नहीं है तो फिर इन चेतनाओं में द्वन्द्वात्मक विभेद क्या उपजता है ? यह या यह अनेक विध भेदात्मक विकास क्या होता है ? स्वतन्त्रता और स्वतन्त्रता का संघर्ष क्या होता है ? इस चेतना में न चुनने और चुनने की भिन्नता क्या है ? सार्त्र के दर्शन में इसका कोई स्पष्ट समुचित उत्तर व्यावहारिक स्तर पर नहीं प्राप्त होता । यह भी हीगल के समान परम (Absolute) सामान्य स्थापित करने की चेष्टा मात्र लगता है जिसका दर्शन समाज मानव के व्यवहार में कहीं स्थान सम्भव है ।

इसलिए जीवन में ऐसा सर्वतन्त्र स्वतन्त्र व्यक्ति नहीं प्राप्त होता । सार्त्र स्वीकारता है कि स्वतन्त्रता कार्य का अभिन्न अंग होती है अर्थात् चुनाव करने के कार्य में ही स्वतन्त्रता है । कार्य बाहर (भौतिक और सामाजिक परिवेश) में घटित होता है अन्दर में घटित होने वाला कार्य विचारस्वप्न मात्र है । यदि यह कार्य बाहर घटित होता है तो अन्दर में प्रभावित भी होता है स्वतन्त्रता इस प्रकार बाहर से सीमित है । जब … का … करेंगे तो भी बाहर की अपनी सीमा … उसके … अतिक्रमण करेगी । आस्तत्व

* सार्त्र के मत में और अन्य के मत में यह स्वतन्त्रताओं का भेद स्पष्ट है । इसके प्रति … सार्त्र स्वतन्त्रता की अनिवार्य सीमा अन्य स्वतन्त्रता को ही मानता है ।

मनुष्य के समय शास्त्र के समान ना करने की स्वतन्त्रता प्रयोग के लिए काम की भूमि और नाना आक्रमण का परिमाण आवश्यक है भारत का बुद्धिजीवी गया नहीं कर सकता । दूसरी ओर व्यक्ति की चेतना का काम उद्देश्यपरक भी माना है चाहे वह उद्देश्यों के परिवर्तन में समय हो पर उद्देश्य तो रहता ही है । इसे अस्तित्ववादी भी स्वीकार करते हैं । यह उद्देश्य का अनुशासन करना में रहना अनिवार्य है उद्देश्य बदल सकते हैं पर अनुशासन नष्ट नहीं होता । चेतना अनिवार्यता (Necessity) नहीं है पर वह परम स्वतन्त्रता भी नहीं है । वस्तुतः इसी के रोमांसवाद में एक तथ्य छिपा था जिस पर अधिक ध्यान नहीं दिया गया । इसी मनुष्य की स्वतन्त्रता के साथ सत्य वर्जित भी देखना है । यद्यपि इसी का यह बन्धन सामाजिक और राजनीतिक अधिक था फिर भी उसमें यह अर्थ निकाला जा सकता है कि मनुष्य की चेतना परम्परा के बल में स्थित होने के कारण उसमें बद्ध है किन्तु इस बद्धता में मोक्ष प्राप्त कर नई अनुकूल बद्धता निर्मित करने की क्षमता उसमें है । निरन्तर नव रचना निर्माण की शक्ति ही उसकी स्वतन्त्रता है ।

इसी व्यक्ति-चेतना के स्वातन्त्र्य पर अनुशासनहीनता के कारण अस्तित्ववाद में समाजपरक नीति (Ethical) तत्त्व और राजनीति का रूप नहीं दिखाई देता है । नीति का कोई निश्चित व्यवस्था इसमें नहीं है । इसके अनुसार व्यक्ति की स्वतन्त्र चेतना में ही नैतिक मूल्य उत्पन्न होते हैं जो अस्थिर और व्यक्तिनिष्ठ होते हैं । फलतः समाजगत नैतिक व्यवहार के लिए सिद्धान्त का अनुपयोग है । साथ ही अस्तित्ववादी सीमोन द बोवुआर * (Simone de Beauvoir) ने नैतिक अस्पष्टता अनिश्चितता और व्यक्तिनिष्ठता की नैतिक व्यवस्था की स्थापना की है जो नीति के व्यक्ति का मनमाना अस्थिर मूल्य-धारण मात्र सिद्ध होती है । इसी प्रकार अस्तित्ववादी तर्क (existentialistic logic) का भी विकास न हुआ है । इनके विषय परक ज्ञान और आत्मानुभूति की कुण्ठा और व्यक्तिनिष्ठता किसी तर्क व्यवस्था को पनपने नहीं देती । इनका तर्क नकारात्मक ही मात्र है । राजनीति के सम्बन्ध में ... किसी निश्चित सिद्धान्त का अभाव नीति विवाद का है । ...

---

* Ethics of Ambiguity —Simone de Beauvoir

सार्थकता का निर्माण स्वयं-वस्तु के सम्पर्क में करता है जो अंतिम नहीं होता। गतिशील और अतिक्रमणयुक्त होने से यह किसी भी स्थूल और सूक्ष्म बंधन से सीमित नहीं हो सकता। इसलिए यह अपनी निर्मिति अर्थात् उद्देश्यों, मूल्यों और स्व-सर्जित व्यवस्थाओं का भी अतिक्रम करता रहता है। इस क्रिया में उसका कोई गतिरोधक बंधन या वस्तुगत सीमा नहीं है, न देश का व्यवधान न काल का प्रतिरोध और न मूल्य-विचार की अनिवार्यता। व्यक्ति स्वयं इन का स्वीकार करता है, यह उसका स्वतंत्र चुनाव है। वह काल को उत्पन्न करता है। उसकी चेतना में पूर्व प्रदत्त कोई मूल्य नहीं होते और न कोई प्रत्यय ही होते हैं। ये मूल्य और प्रत्यय उसकी चेतना से ही समय समय पर उद्भूत होते हैं, फलतः सर्जक की सामर्थ्य के कारण वह इनसे स्वतंत्र है। इन मूल्यों की अस्थायी सापेक्ष स्थिति ही है।

मनुष्य इस स्वतंत्रता से बच नहीं सकता। सार्त्र की भाषा में वह स्वतंत्र होने के लिए अभिशप्त है। उसे संसार में चुनाव करना ही पड़ता है, चुनाव नहीं करने का निश्चय भी चुनाव ही है। अर्थात् स्व स्वतंत्रता का प्रयोग है। कायर व्यक्ति हान नहीं करता और कायरता में कायरता को चुनते हैं। फलतः यह स्वतंत्रता व्यक्ति के सम्पूर्ण कार्य व्यवहार में क्रियाशील है, सामान्य तत्त्व के रूप में नहीं, व्यक्तिगत चेतन-क्रिया के रूप में। स्पष्ट है कि व्यक्ति इस स्वतंत्रता के कारण वस्तु, परिवेश, अन्य और शरीर से कटता है, विच्छिन्न होता है, अकेला बनता है। अर्थात् अलगाव सहज ही उत्पन्न हो जाता है। सार्त्र और कामू इस अलगाव को स्वाभाविक मान कर स्वीकार करते हैं। इसलिए व्यक्ति की पारा घातक संत्रास और क्षणिकता को स्वीकार करते हैं।

पर क्या व्यक्ति की स्वतंत्रता इतनी आत्यंतिक और परम है? क्या ऐसा नहीं लगता कि स्वतंत्रता इस रूप में सजीव व्यक्ति की अनुभूति और क्रिया न होकर एक वायवी धारणा मात्र रह जाती है? सार्त्र कहता है कि न चुनना भी चुनना है अर्थात् स्वतंत्रता है, तो फिर न चुनना और चुनना क्या एक ही है? फिर परतंत्रता और स्वतंत्रता में भेद क्या है? क्या न चुनना परतंत्रता नहीं है? व्यक्ति चुनता है स्वतंत्रता के कारण और न चुनने को भी चुनता है इसी स्वतंत्रता के कारण। सार्त्र बुद्धि विरोध

---

* सार्त्र विषयक अध्याय में इस बात का सविस्तर विवेचन हो चुका है।

करते हुए भी बुद्धिगत प्रत्यय की स्थापना कर रहा है । सामान्य व्यक्ति नहीं चुनने का कार्य अपनी स्वतन्त्रता के कारण नहीं करता अपितु अनेक विवशता सूचक कारणों से करता है । जिस सामान्य के प्रति मार्क्स विद्रोह करता है उसी सामान्य स्वतन्त्रता की वह स्थापना करता सा लगता है । यह निरावृत स्वतन्त्रता एक भ्रमात्मक विचार मात्र प्रतीत होता है । इसमें तार्किक असंगति भी प्रतीत होती है । थोड़ा सूक्ष्म विचार करें । सार्त्र चेतनाओं की अनेकता मानता है क्योंकि व्यक्ति अनेक हैं । इसलिए इन चेतनाओं का सर्जन कार्य निर्मिति या विश्व भी अनेक है भिन्न है फलतः द्वन्द्वात्मक है पर ऐसा क्यों है ? सार्त्र की चेतनाएं मूलतः अहंरहित हैं इसका मतलब होना चाहिए कि अनेकशः स्थित होते हुए भी उनमें मूलभूत समानता है । क्योंकि असमानता तो जैसा वह स्वयं स्वीकार करता है अन्यत्र से उत्पन्न होती है । यदि वंश परम्परा संस्कार वृत्ति परिवेश आदि किसी का भी बन्धन उस चेतना में नहीं है तो फिर इन चेतनाओं में द्वन्द्वात्मक विभेद क्यों उपजता है अहं का यह अनेक विध भेद मूर्त विकास क्यों होता है । स्वतन्त्रता और स्वतन्त्रता का संघर्ष क्यों होता है ? इस चेतना में न चुनने और चुनने की भिन्नता क्यों है ? सार्त्र के दर्शन में इसका कोई स्पष्ट समुचित उत्तर व्यावहारिक स्तर पर नहीं प्राप्त होता । यह भी हीगल के समान परम (Absolute) सामान्य स्थापित करने का चेष्टा मात्र लगता है जिसका स्पन्दित सजीव मानव के क्रियाकलाप से बड़ा क्षीण सम्बन्ध है ।

व्यक्ति जीवन में ऐसी सर्वतन्त्र स्वतन्त्र चेतना नहीं प्राप्त होती । सार्त्र स्वीकारता है कि स्वतन्त्रता कार्य में अभिव्यक्त होती है अर्थात् चुनाव करने के कार्य में वह स्वतन्त्रता है । कार्य बाहर (भौतिक और सामाजिक परिवेश) में घटित होता है अन्तर में घटित होने वाला कार्य दिवास्वप्न मात्र है । यदि यह कार्य बाहर घटित होता है तो अन्तर में प्रभावित भी होता है स्वतन्त्रता इस अन्तर बाहर में सीमित है । वह बाहर का अतिक्रमण करे तो भी बाहर का अपना सामान्य रूप उसके ज्ञान का अतिक्रमण करेगी । अतएव

---

* मार्क्स में और अन्य कई में परस्परता में यह स्वतन्त्रताओं का ही संघर्ष है । इसे प्रतिक्रिया मात्र स्वतन्त्रता का अनिवार्य सीमा अन्य स्वतन्त्रता को ही मानता है ।

संकट के समय रोम के समान ना बहने की स्वतन्त्रता प्रयोग के लिए फ्रांस की भूमि और नाजी आक्रमण की परिसीमा आवश्यक है भारत का बुद्धिजीवी ऐसा नहीं कर सकता। दूसरी ओर व्यक्ति की चेतना का कार्य उद्देश्यपरक भी होता है चाहे वह उद्देश्यों के परिवर्तन में समर्थ हो पर उद्देश्य तो रहता ही है। इसे अस्तित्ववादी भी स्वीकार करते हैं। यह उद्देश्य का अनुशासन चेतना में रहना अनिवार्य है उद्देश्य बदल सकते हैं पर अनुशासन नष्ट नहीं होता। चेतना अनिवार्यता (Necessity) नहीं है पर वह परम स्वतन्त्रता भी नहीं है। वस्तुतः रूसो के रोमांसवाद में एक तथ्य ऐसा था जिस पर अधिक ध्यान नहीं दिया गया। रूसो मनुष्य को स्वतन्त्र के साथ सर्वत्र शृंखलित भी देखता है। यद्यपि रूसो का यह कथन सामाजिक और राजनीतिक अधिक था फिर भी उससे यह अर्थ निकाला जा सकता है कि मनुष्य की चेतना स्वभाव के क्षेत्र में स्थित होने के कारण उसमें बद्ध है किन्तु इस बद्धता से मुक्ति प्राप्त कर नई अनुकूल बद्धता निर्मित करने की समर्थता उसमें है। निरन्तर नई बद्धता निर्माण की शक्ति ही उसकी स्वतन्त्रता है।

इसी व्यक्ति-चेतना के स्वातन्त्र्य पर अत्यधिक जोर देने के कारण अस्तित्ववाद में समाजपरक नीति (Ethical) तर्क और राजनीति की उपेक्षा दिखाई देती है। नैतिकता की कोई निश्चित व्यवस्था इसमें नहीं है। इसके अनुसार व्यक्ति की स्वतन्त्र चेतना में ही नैतिक मूल्य उत्पन्न होते हैं जो अस्थिर और व्यक्तिनिष्ठ हो जाते हैं। फलतः समाजगत नैतिक व्यवहार के लिए सिद्धान्त ही अनुपयोगी हैं। सार्त्र की सहयोगिनी सीमोन द बोवार * (Simone de Beauvoir) ने स्थापित अस्पष्टता अनिश्चितता और व्यक्तिनिष्ठता की नीति व्यवस्था की स्थापना की है जो नीति नहीं। व्यक्ति का मनमाना अस्थिर मूल्य-आरोपण मात्र सिद्ध होता है। इसी प्रकार अस्तित्ववादी तर्क (existential logic) का भी विकास नहीं हुआ है। इन्द्रिय विषयपरक ज्ञान और सहजानुभूति की कुण्ठित और व्यक्तिनिष्ठता किसी तर्क व्यवस्था को पनपने नहीं देती। इन्द्रिय-विषय परक तर्क नहीं बन पाता मात्र है। राजनीति के संबंध में भी किसी निश्चित सिद्धान्त का अनुसरण नहीं दिखाई देता है। मैं का

---

* Ethics of Ambiguity —Simone de Beauvoir

समूह से सम्बन्ध सामाजिक स्तर पर इन तीनों के अभाव में स्थापित हो ही नहीं सकता।

यह स्वतन्त्रता व्यक्ति को सब के लिए उत्तरदायी बनाती है। इसीलिए उसके अभाव भी उसी के हैं समाज या बाहरी व्यवस्था से उद्भूत नहीं। फलत समाज या बाहरी व्यवस्था के सुधार का न तो आशास्पद प्रेरणा हो उसमें सकती है और न इस सुधार से किसी सामञ्जस्यपूर्ण मानसिक शांति की प्राप्ति होगी। स्वतन्त्र व्यक्ति भी अनगाव पीडा आतंक से उतना ही ग्रस्त रहेगा जितना परतन्त्र। फिर व्यक्ति स्वतन्त्र बनने के लिए प्रयत्न ही क्या करे? सार्त्र स्वतन्त्रता को उद्देश्य न मानकर सत्त्वविद्यागत तत्त्व मानता है। इसलिए इसमें भावी सामञ्जस्य की शिवतर स्थिति अनुपस्थित है। यह एक प्रवाह है क्रिया है जो स्वयम् से ही गतिशील रहती है इसलिए यह रोग का उपचार न होकर रोग की प्रक्रिया ही सिद्ध होता है।

निष्कर्षत अस्तित्ववाद आधुनिक पश्चिमी व्यक्ति के रुग्ण मन का प्रतिबिम्ब है उसका यथातथ्य वर्णन है किन्तु समुचित समाधान नहीं है। इसमें जीवन-स्थिति का चित्रण है पर स्वस्थ जीवनदृष्टि का पूर्णतया अभाव ही दिखाई देता है। फलत यह अच्छा मनोविज्ञान है पर बुरा जीवन-दर्शन या भूतातीतविद्या (Metaphysics) सिद्ध होता है।